

‘स्वप्न में भी सोकर जागने पर ऐसा ही होता है। अतः वह भी इसके समान सत्य ही है।’

‘किन्तु स्वप्नलोक तो केवल जाग्रत का मानस प्रत्ययमात्र है। वह केवल स्मृति है। वहाँ विषय नहीं है।’

‘यह तो ठीक है, परन्तु विषय स्थूल होते हैं और उनके मानसप्रत्यय सूक्ष्म, यही विषय और उनके स्मरण में भेद है। स्थूलविषय हों या स्वप्नविषय हों, भोगदृष्टि से कोई अन्तर नहीं है, एक ही है। भोजन स्वप्न में किया गया हो या जाग्रत में, तृप्ति समान ही है। हिरण्यगर्भ सूक्ष्मभोगी होने के कारण मानसलोकों से ही सन्तुष्ट रहता है। जीव तो स्थूल भोगी है, उसके लिये ही यह स्थूल जगत् है।’

आगे शंकर के चिन्तन ने एक और मार्ग पकड़ा। ‘प्रश्न पूछने वाला मैं हूँ। उनके उत्तर कौन दे रहा है? क्या उनके उत्तर मुझसे ही आ रहे हैं? यदि उत्तर मुझसे ही आ रहे होते तो मुझमें प्रश्न उठते ही नहीं। प्रश्न और उत्तर का क्या एक ही व्यक्ति में रहना साध्य है? यह साध्य नहीं है..... अथवा ये उत्तर बाहर से ही आ रहे हैं। तब तो मुझसे भिन्न किसी से उत्तर आ रहे हैं। वह मुझमें ही है। दूसरों को भी अपने प्रश्नों के उत्तर मिलते ही हैं। वह प्रायः सबमें रहता है। अतः, सबके प्रश्नों का उत्तर देनेवाला वह ‘सर्वज्ञ’ ही होना चाहिये। वह कौन है? क्या हिरण्यगर्भ है? वह भी हो सकता है। किन्तु उसका भी तो जन्म होता है न। सबसे पहले उसी का जन्म हुआ था। इसलिये सर्वज्ञरूपी साक्षी उसका भी साक्षी हुआ। तभी उसमें किसी प्रकार के सन्देह नहीं रह सकते। क्यों नहीं रह सकते? मुझे सन्देह अपने से भिन्न किसी विषय में हो सकता है.....हाँ। तब उसको सन्देह नहीं होता। इसका कारण क्या है? हाँ समझ गया। उसका अपनी अपेक्षा और कोई नहीं है। वह ही सब है। जब सब वही है तो किसके विषय में सन्देह होगा। जब तक शरीर में मैं और मेरे का अभिमान रहता है तभी तक अपने से भिन्न बहुत होते हैं। उनके विषय में संशय आते ही रहते हैं। जब इस सम्पूर्ण जगत् का कारण वह सर्वज्ञ मैं हूँ इस ज्ञान का उदय होता है तो अपने से भिन्न कुछ नहीं रहता और संशय आते ही नहीं। क्यों संशय नहीं आते? जिसके ज्ञान से अश्रुत श्रुत हो

जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात ज्ञात हो जाता है वही वह सर्वज्ञ है—‘येन अश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतं भवति अविज्ञातं विज्ञातं भवति, तत् ब्रह्म’।

कुछ दिन बाद गुरुजी ने नया पाठ शुरू किया। उन्होंने कहा—

“पिछली बार मैंने तुम्हें सृष्टिक्रम बताया था। उसमें एक बात कभी न भूलना। जब प्राण, अव्यक्त आदि से लेकर जीव तक ब्रह्म से आते हैं, वे धनुष से बाण की तरह ब्रह्म से अलग होकर नहीं निकलते हैं। ब्रह्म सबमें समानरूप से अनुसरण करता आता है। यह स्मरण नहीं रखोगे तो ‘सर्व खल्विदं ब्रह्म’ इस श्रुतिवाक्य का अर्थ समझ में नहीं आयेगा। ये अनुसरण उसी प्रकार है जिस प्रकार सोना सोने के टुकड़े में और आभूषण में अनुसरण करता आता है। इसके अलावा मनुष्य शरीर में एक और विशेषता है कि उसमें ब्रह्माण्ड के तत्त्व अवस्थित हैं, किस प्रकार हैं, बताता हूँ, समझो।”

“गुदा से गले तक गयी हुयी रीढ़ की हड्डी को मेरुदण्ड कहते हैं। उसकी बायीं ओर ईडानाडी, दाहिनी ओर पिङ्गलानाडी और बीच में सुषुम्नानाडी होती है। इन तीनों का संगम भ्रू के मध्यस्थान में होता है। गुदाद्वार में जहाँ सुषुम्नानाडी का आरंभ होता है, उसके पास मूलाधारचक्र होता है, उसके ऊपर जननेन्द्रिय के निचले भाग में स्वाधिष्ठानचक्र होता है, उसके ऊपर और नाभि के नीचे मणिपूरचक्र, उसके ऊपर हृदय के निकट अनाहतचक्र, उसके ऊपर कण्ठ के नीचे विशुद्धचक्र होता है। इस प्रकार पाँच चक्र होते हैं। इनमें क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंचीकृत महाभूत होते हैं। इसी क्रम में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द तन्मात्राओं से युक्त त्रिवृत्कृत भूत होते हैं। इसी प्रकार घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र—इन ज्ञानेन्द्रियों के शक्तिस्थान भी क्रमशः चक्रों में होते हैं। इसी क्रम में ही भूः, भुवः सुवः, महः, जनः ये व्याहृतियाँ साकिनी, काकिनी, लाकिनी, राकिणी और डाकिनी ये व्यष्टि देवता और पंचमहाभूतों के समष्टिदेवता होते हैं।

इसके ऊपर होता है आज्ञाचक्र जो कि विशुद्धचक्र के ऊपर माथे के पास होता है। यह पंचमहाभूतों की कारणभूत प्रकृति का, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के ग्रहणसामर्थ्य से युक्त अन्तःकरण का, व्यष्टि देवता

हाकिनी का, समष्टि देवता हिरण्यगर्भ का और तप व्याहति का स्थान है। इसके भी ऊपर सहस्रारचक्र होता है। सिर पर एक उल्टे कमल के रूप में स्थित यह चक्र सत्य व्याहति का, व्यष्टिदेवता याकिनी का और ईश्वर का स्थान है। यहाँ स्थित ब्रह्मरन्ध्र से ही देह में प्रवेश करके ईश्वर जीव के जीवन का आधार बनता है। ये सब कुछ अच्छी तरह से समझ गये न?”

“चक्र ज्ञानेन्द्रियों के शक्तिस्थान किस प्रकार हैं?”

“देखो। गन्ध को सूँघती है मुख पर स्थित नाक। फिर भी, सूँघते समय साँस को खींचने की अपानवायु की क्रिया का बल मूलाधार में स्थित गुदगुह्य में है। अतः, मूलाधार पृथ्वीभूत और ‘गन्ध’ इन दोनों का स्थान है। इसी प्रकार अन्य चक्र भी।”

“व्याहति का अर्थ क्या होता है?”

“वह देवता का नाम है। अपने नाम द्वारा पुकारे जाने पर देवता ‘हाँ’ कहते हैं, अर्थात् अनुग्रह करते हैं। व्याहति शब्द की ध्वनि उसका स्वभाव भी है। कैसे? देखो, वस्तु का स्वभाव उसके द्वारा किये गये शब्द से पता पड़ता है। उदाहरण के लिये, किसान बड़े-बड़े पीपों में अनाज भरकर रखते हैं। नीचे से ऊपर तक लाठी मारते हुये यह निश्चय होता है कि अन्दर कितना अनाज है। नाड़ी का शब्द सुनकर वैद्य शरीरस्थ रोग का पता लगा लेते हैं। लेकिन यहाँ देखो.....” और फिर गुरु ने अपने कमण्डलु पर चम्मच मारा और उससे निकले शब्द का अनुसरण करते हुये अपने मुँह से ‘ठिण’ शब्द का उच्चारण किया।

“ये ठिण, जो मैंने कहा है यह कमण्डलु का शब्द न होते हुये भी उसके निकट है। उसी प्रकार, भूः शब्द पृथ्वीतत्व के स्वरूप को सूचित करता है। मूलाधार में स्थित पृथ्वीतत्व और शरीर से बाहर स्थित पृथ्वीतत्व स्वरूपतः समान ही हैं इसलिये उनकी व्याहति और स्वभाव भी समान ही है। परन्तु उपासक द्वारा उच्चारित भूः व्याहति पृथ्वीव्याहति के साथ पूरी तरह मेल नहीं खाती। उन दोनों को मिलाने में एक दृष्टान्त देखो, अपनी वीणा का शब्द यदि शिक्षक की वीणा के शब्द से मेल नहीं खाता तो तारों को खींचा जाता है और मेल बिठाया जाता है। उसी प्रकार, अपनी व्याहति का

पृथ्वीव्याहति से ऐक्य बिठाने के लिये अपने प्रयत्न की आवश्यकता है। इसीलिये, पृथ्वी का स्वरूप जानने के साथ-साथ अपना और उसका सम्बन्ध गुरुमुख और शास्त्र के द्वारा जानना चाहिये। इस प्रकार उपासना से अपनी बुद्धि में देवता के स्वरूप से समानता होने पर देवता की बुद्धि के अनुसार उपासक की बुद्धि प्रतिस्पन्दन करती है। तब देवता का व्यवहार उपासक द्वारा भी हो सकता है। इसको 'भूतजय' कहते हैं। उदाहरण के लिये, तपः व्याहति से आज्ञाचक्र के समष्टिबुद्धि देवता हिरण्यगर्भ की उपासना द्वारा उत्पन्न प्रतिस्पन्दन से उपासक को त्रिकालज्ञान और सबके मन को जानने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। किन्तु सावधान रहो। सिद्धियों के विषय में व्यामोह नहीं करना चाहिये। उनका प्रयोग धर्म की रक्षा के लिये होना चाहिये।”

अगले दिन प्रातः सन्ध्योपासना करके शंकर गुरुजी के पास गया। उनको साष्टाङ्ग नमस्कार किया। गोविन्दभगवत्पाद ने उसके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। उसके बाद शंकर की साधना प्रारंभ हुयी। दूसरे शिष्यों से गुरुजी बोले, “तुम लोग शंकर के लिये भिक्षा ले आया करो। उसके लिये रख दिया करो; अगर वह ध्यान में हो तो उसे मत उठाना। वह जब भी उठेगा खा लेगा।”

शंकर भिक्षा के लिये नहीं जाता था। प्रतिदिन नर्मदा में स्नान करके पास ही एक छोटी गुफा में ध्यान के लिये बैठ जाता और कभी-कभी ही बहिर्मुख होता। दोपहर में जागृत होता तो भिक्षा खा लेता नहीं तो उतना भी नहीं होता था। कभी-कभी तो दो-दो, तीन-तीन दिनों तक भी नहीं उठता था। जाग्रदवस्था में वह किसी से बातचीत नहीं करता था। स्वयं जाकर उससे बात करने का साहस किसी शिष्य में नहीं होता था। एक दिन जब शिष्यों ने भिक्षा देने के लिये शंकर की गुफा में प्रवेश किया तो उन्हें एक अवर्णनीय सुगन्ध का अनुभव हुआ। गंभीर, मन्द ध्वनि में 'भूः' शब्द सुनायी दिया। उन्होंने झुककर उसका मुख देखा। उस पर एक अलौकिक तेज विद्यमान था परन्तु मुँह बिल्कुल नहीं चल रहा था। शब्द कहाँ से आ रहा था यह पता नहीं पड़ रहा था। शिष्य लायी हुयी भिक्षा को वापिस ले चले और दौड़कर गुरु को सूचित किया।

“ऐसा है क्या? तब तो उसने पृथ्वीभूत को जीत लिया है। उसकी साधना के बारे में गांव के लोगों से कुछ मत कहना। यदि कहा तो वे उसके दर्शन के लिये आने लगेंगे और तपस्या में विघ्न पड़ेगा।” गुरुजी बोले।

शीत ऋतु आ पहुँची थी। शंकर चार दिन से नहीं उठा था। समाधि स्थिति में वह पत्थर की मूर्ति के समान बैठा था। शिष्य प्रतिदिन उसके लिये भिक्षा लाकर गुफा के द्वार पर रख रहे थे। शाम के बाद सब एक-एक घास का वितरण करके प्रसादरूप से उसे ग्रहण करते थे। प्रतिदिन वे गुरुजी को यही बताते, “शंकर आज भी नहीं उठा”, और गुरुजी हर बार यही उत्तर देते, “उसे उठाना मत”। पाँचवें दिन एक ज्येष्ठ शिष्य ने साहस करके गुफा में झांका। गुफा में पहला कदम रखते ही उसे एक असहनीय ताप की अनुभूति हुयी, यद्यपि बाहर शीत ऋतु के कारण अत्यन्त ठण्ड थी। आश्चर्य से उसने एक कदम और आगे बढ़ाया तो देखा कि शंकर की नाभि से आग की चिंगारियाँ फूट रही थीं। डर के मारे वह भागता हुआ गुरुजी के पास आया और उन्हें सब बताया। गुरुजी ने कहा, “घबराने की कोई बात नहीं है। उसने बहुत कम समय में बहुत अधिक साधना की है। उसने अब अग्नि तत्व को जीत लिया है। देखो कि उसकी उपासना किसी प्रकार भी भंग न हो। अब उसके लिये भिक्षा भी लाकर रखने की आवश्यकता नहीं है।”

“गुरुजी! बिना खाये वह कैसे जी पायेगा?”

“अब ध्यान ही उसका आहार है। अब अपने संकल्प से ही वह दूसरों का भी पेट भर सकता है।”

इतना कहने पर भी गुरुजी को स्वयं भय लगा जब आठवें दिन भी शंकर नहीं उठा। उन्होंने मन ही मन सोचा, “यदि इसे ऐसे ही छोड़ दिया तो यह रुद्रग्रन्थि का भी भेदन करके सहस्रार में स्थित हो जायेगा। फिर तो यह ईश्वर के समान प्रवृत्तिरहित हो जायेगा। ऐसा होने पर लोक को इससे कोई लाभ नहीं होगा। किन्तु इसे तो भविष्य में महान् कार्य सिद्ध करने हैं।” ऐसा सोचते हुये गुरुजी ने उसे उठाने का निश्चय किया। गुफा में प्रवेश करके उन्होंने मृदुता से अपना सीधा हाथ उसके सिर पर रखा और धीरे-धीरे हिलाते हुये बोले, “शंकर बेटा! बहुत हुआ, अब उठो”। शंकर धीरे-धीरे

बहिर्मुख हुआ और आँखें खोलों। उसके नेत्र खिले हुये लाल कमल की तरह थे। वह धीरे से उठा और गुरु को साष्टांग प्रणाम किया। जब शंकर उठा तो गुरुजी बहुत देर तक एक माँ के समान उसका आलिंगन करते रहे। फिर गुरुजी वापिस लौट गये। उनके जाने के बाद शिष्य एक समूह में आकर उसे प्रणाम करने लगे तो शंकर ने उन्हें रोका।

× × ×

कुछ दिन के विश्राम के बाद गुरुजी ने शंकर को पूर्वमीमांसा पढ़ाना आरंभ किया : “वेद के दो भाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। पहले कर्मकाण्ड के विषय में सुनो, जीते हुये और मरने के बाद भी सुखप्राप्ति के लिये क्या करना होता है वह इस काण्ड में बताया गया है। यह हमारे द्वारा स्वयं अपनी बुद्धि द्वारा जान लेना साध्य नहीं है। साधारणतया लोग सुख के लिये अपने निश्चय के अनुसार ही प्रयत्न करते रहते हैं। लेकिन इसका भरोसा नहीं होता कि सुख ही मिलेगा, बहुत बार तो उन्हें अपने प्रयासों के फलस्वरूप दुःख ही मिलते हैं। ज्ञानकाण्ड तो शाश्वत सुख के लिये प्राप्तव्य मोक्ष के बारे में बताता है। इसके विषय में अनुमान करके जान लेना साध्य नहीं है अतः, सुखप्राप्ति का साधन वेद ही बता सकते हैं।”

शंकर ने पूछा, “लोग तो प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा ही किसी विषय के बारे में निष्कर्ष निकालते हैं। वे उनमें विश्वास रखते हैं क्योंकि इन प्रमाणों के द्वारा उन्हें साक्षात् अनुभव होता है। वेदों में विश्वास करने का क्या आधार है?”

“बोलता हूँ, सुनो! पिछले जन्मों के कर्म और इस जन्म के कर्म अगर परस्पर अनुकूल होते हैं तो फल प्राप्त होता है, विरुद्ध होते हैं तो फल प्राप्त नहीं होता। पिछले जन्म प्रत्यक्ष नहीं होते। अतः, किसी अन्य व्यक्ति की तरह कर्म करके उसी की तरह सुख प्राप्त करना असाध्य है। जब जीवित दशा में ही सुखप्राप्ति के उपाय इतने रहस्यमय हैं तो मरणान्तर सुखप्राप्ति करना असाध्य है। तब जीवित दशा में ही सुख प्राप्त करने के विषय में क्या कहना है? केवल हृदयस्थ परमेश्वर ही एक-एक के पिछले जन्मों के कर्मों को जानता है। सुखप्राप्ति के लिये उसे क्या करना है इसको बताने वाला

केवल ईश्वर है। वेद उसी से आये हैं। वह किसी बुद्धिमान् मनुष्य द्वारा विचार करके लिखे ग्रन्थ नहीं हैं। वेद अपौरुषेय हैं। इसलिये, जो विषय प्रत्यक्ष और अनुमान से अग्राह्य हैं, उनमें वेद ही प्रमाण हैं।”

“वेद ईश्वर से आये हैं, यह हम कैसे कह सकते हैं?”

“वेदों के कुछ लक्षणों द्वारा। पहला लक्षण यह है किसी प्रसिद्ध ग्रन्थ का कर्ता कौन है यह भी प्रसिद्ध ही होता है। सब जानते हैं कि व्याकरण के रचयिता पाणिनि हैं, महाभारत के व्यास और मूलरामायण के वाल्मीकि। कितना भी समय बीत जाये लोग इसे नहीं भूलते। यदि वेदों का भी ऐसा कोई रचयिता होता तो उसे भी लोग नहीं भूलते। लेकिन उसके कर्ता को कोई नहीं जानता। द्वितीय लक्षण यह है: वेद में स्वर, मात्राबल इत्यादि संगीतलक्षण होते हैं। स्वर तीन होते हैं, उच्च स्वर ऋषभ, नीच स्वर निषाद और मध्यस्वर षड्ज। सामवेद में सात स्वर होते हैं। मात्रा से यह निश्चित होता है कि अमुक स्वर को कितना दीर्घ उच्चारित किया जाये। ‘यह कोयल की कूक के समान, यह मयूर की केकार के समान’, इस प्रकार मात्रा का निर्देश दिया जाता है। एक-एक अक्षर का उच्चारण भी परम्परा से निश्चित है। बहुत स्थानों में स्वरभेद से अर्थभेद भी हो जाता है। इस विषय में एक कथा है। त्वष्टा नामक एक असुर था। इन्द्र को जीतने वाले एक पुत्र की अभिलाषा से उसने यज्ञ किया। यज्ञ के अन्तिम चरण में पहुँचने पर देवता अत्यन्त भयभीत हो गये और रक्षा के लिये माता सरस्वती के पास गये। माँ ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और अपनी योगशक्ति से त्वष्टा के कण्ठ में प्रवेश कर गयी। यज्ञ के अन्त में उसे ‘इन्द्रशत्रो वर्धस्व’ इस प्रकार प्रार्थना करनी थी। इसमें द्वितीय अक्षर का नीचस्वर, चतुर्थ का उच्च स्वर और बाकियों का मध्यस्वर होना था। कण्ठ में प्रविष्ट हुयी सरस्वती के प्रभाव से उसने द्वितीय अक्षर का उच्चस्वर और बाकियों का मध्यस्वर में उच्चारण किया। उससे ‘इन्द्रस्य शत्रो वर्धस्व’ के स्थान पर ‘इन्द्रस्य यस्य शत्रुः स वर्धस्व’ अर्थात् ‘इन्द्र के शत्रु की जय हो, के स्थान पर ‘शत्रु इन्द्र की जय हो’ ऐसा अर्थ हो गया। बाद में त्वष्टा के पुत्र त्वाष्ट्र का इन्द्र द्वारा वध किया गया। इस प्रकार निश्चित मात्रा-स्वर अनादि काल से चले आ रहे हैं। अगर इनका रचयिता कोई मनुष्य होता, तो ये इस प्रकार बने नहीं रह सकते थे।”

“तृतीय लक्षण है वेद का अनन्तत्व। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार उनके समय में वेद की शाकलशाखा, वाष्कलशाखा, तैत्तिरीयशाखा, माध्यन्दिनशाखा इत्यादि 1131 शाखाएँ थीं। उनका सम्पूर्णतया पारायण करने के लिये लगभग 50,000 घण्टे का समय चाहिये। इससे वेद के अनन्त विस्तार का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इतना विस्तृत साहित्य एक मनुष्य द्वारा रचित होना सम्भव नहीं है।”

“वेद का बहुत कर्ताओं द्वारा रचित होना भी सम्भव नहीं है। क्योंकि सबका सभी विषयों में एकमत होना सम्भव नहीं होता। परन्तु वेद में किसी भी विचार में अन्तर्विरोध नहीं दिखता। ये चारों लक्षण याद रखने पर वेद की अपौरुषेयता के विषय में सन्देह नहीं उठता।”

“गुरुजी! ईश्वर द्वारा रचित शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का तो हम प्रत्यक्ष अनुभव कर पाते हैं, परन्तु वेद, ईश्वर की रचना होने पर भी, हम प्रत्यक्ष नहीं सुन पाते तो फिर मनुष्यों को उसकी प्राप्ति कैसे होती है?”

“सृष्टिक्रम तो तुम्हें पता ही है। पेड़-पौधों इत्यादि की सृष्टि के बाद अयोनिज मरीचि आदि सप्तऋषि, सनकादि ज्ञानी पृथ्वी से जन्म लेते हैं। ये सब पिछली सृष्टि के महापुरुष थे जिन्होंने अत्यधिक तप और योग का अनुष्ठान किया। पिछले जन्मों में जो उन्होंने वेद का अध्ययन किया था वह उन्हें परमेश्वर के अनुग्रह से स्मरण हो आता है। कर्मकाण्ड का भाग मरीचि आदि को और ज्ञानकाण्ड का भाग सनकादि को स्मरण हो आता है। इस प्रकार जो भाग जिसको स्मरण आता है वे उस भाग के ऋषि होते हैं। ये द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं। बाद में सप्तर्षियों के कुल में जन्म लेने वाले भी द्रष्टा होते हैं। इसलिये वेद नित्य हैं।”

“अब तक जो सरलता से ग्रहण किया गया है, उसका और गम्भीरता से विचार करना चाहिये। उससे पहले शब्द और शब्दार्थ के सम्बन्ध के नित्यत्व को समझो। यह सबका अनुभव है कि पहले से ही मन में विद्यमान शब्द ही वाग्रूप से प्रकाशित होते हैं। मन में शब्द कहाँ से आते हैं बोलो?”

“पूर्वजों से सुने हुये शब्द स्मृति में होते हैं। स्मृति से मन में प्रवेश करते हैं।”



“पूर्वजों में शब्द कहाँ से आते हैं?”

“उनके भी पूर्वजों से आते हैं।”

“इससे यह सिद्ध होता है कि शब्द अनादि है और शब्द और शब्दार्थ का सम्बन्ध भी अनादि है। अतः शब्द और शब्दार्थ अपौरुषेय हैं। ‘सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते’- वह धीर सब रूपों को रचकर उनका नामकरण करता है और फिर उन नामों से उन्हें बुलाता है। इसी प्रकार, वेदवाक्य भी अनादि और अपौरुषेय हैं।”

प्रश्न “शब्द और शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य होने पर भी वाक्यस्थ पदसमूह की अपेक्षा वाक्य का एक और विशिष्ट ही अर्थ होता है। अतः कहें कि वाक्य पौरुषेय हैं तो?”

“ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिये क्योंकि वाक्य का अर्थ उसके पदों से ही ज्ञात होता है। यदि वाक्य का अन्य विशिष्ट ही कोई अर्थ हो तो उसका बोध कराने के लिये एक और वाक्य की आवश्यकता होगी। प्रश्न: “एक ही अर्थ, पर्यायशब्दों द्वारा अलग-अलग वाक्यों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। उसी प्रकार, वेद का एक ही अर्थ होने पर भी उनको समझने वाले ऋषियों के अनुसार अर्थ अलग-अलग हो सकते हैं। अतः, वेद पौरुषेय हो सकते हैं न?” उत्तर “ऐसा नहीं। यह सही है कि अर्थ को समझने वाला पर्यायशब्दों द्वारा उसे अभिव्यक्त कर सकता है। वेद के भाष्यकारों ने यही किया है। परन्तु अर्थ समझने का आधार वाक्य ही है। इतना ही नहीं, वेद का अर्थ दूसरे प्रमाणों द्वारा नहीं जाना जा सकता। अतः, वेद का अर्थ जिसको जानना है उसके लिये वेदवाक्य पहले है, अर्थग्रहण बाद में।

वेदार्थ जानने वालों पर भी यही नियम लागू होता है। वामदेवप्रभृति ऋषि जिन्हें पहले से ही वेद का अर्थ ज्ञात होता है, वे उन वाक्यों के स्मरणमात्र से जिनसे उन्होंने वेदार्थ समझा था मन्त्रद्रष्टा हो जाते हैं, ऐसी कहने में कोई आपत्ति नहीं है। वे पर्यायवाक्यों का स्मरण करते हैं, ऐसी कल्पना के लिए कोई अनिवार्य कारण भी नहीं है। ज्ञान और स्मरण तो भगवान के अनुग्रह से होता है- ‘सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च’।

इसलिये यह कहना युक्त है कि पिछली सृष्टि में जो वाक्य थे, उन्हीं का स्मरण भगवान् ऋषियों को कराते हैं। वेद के कथन 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' - से यह स्पष्ट है कि इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि 'यथापूर्व' है, अर्थात् जैसी पहले थी वैसे ही अब भी है, इसीलिये वेद, जो कि ब्रह्माण्ड का ही एक अंश है, वह भी यथापूर्व ही है।

प्रश्न :- "यदि ऐसा है तो एक ही वेदवाक्य के अलग-अलग लोग, अलग-अलग अर्थ कैसे ग्रहण करते हैं?"

उत्तर - "सही अर्थ को ग्रहण करने में बाधक हैं व्यक्ति के संस्कार। विरुद्ध संस्कारों के कारण, श्रुत अर्थ की हानि करके अश्रुत अर्थ की कल्पना करते हैं। इसके निवारण के लिये ही जिज्ञासा होती है। अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग अर्थग्रहण करना वेदवाक्यों का दोष नहीं है, सुनने वालों का दोष है। प्रमातृ का दोष प्रमाण पर डालना उचित नहीं है। उदाहरण के लिये, शुक्ति में रजत देखना नेत्र का दोष नहीं है, देखने वाले के संस्कार का दोष है।"

प्रश्न :- "वाक्यश्रवण के बाद दोषपूर्ण अर्थ को ग्रहण करने का कारण पता पड़ गया। परन्तु सुसंस्कृत व्यक्तियों को भी वाक्यश्रवण के बाद संशय होता है। उसका क्या कारण है?"

उत्तर - "उसका कारण इस प्रकार है: किसी गंभीर विषय का बोध एक ही वाक्य द्वारा नहीं कराया जा सकता। कई वाक्यों का प्रयोग करना पड़ता है। कोई वाक्य एकदेशीय अर्थ को ही समझाते हुये श्रोता को समग्र अर्थ की तरफ ले जाता है। जिस प्रकार एक घर की दिशा, पहुँचने वाले मार्ग की अपेक्षा से बदलती रहती है, उसी प्रकार वाक्यों की दिशापरिवर्तन भी अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में सन्देह उठना स्वाभाविक है। अतः, अर्थ ग्रहण करने के लिये, प्रतिपादित विषय को उपक्रम से लेकर उपसंहार तक शान्ति से सुनना आवश्यक है। ऐसा करने पर संशय नहीं होंगे।"

इस प्रकार गुरुजी ने शंकर के संशयों को दूर किया, और फिर विषय को आगे बढ़ाते हुये कहा, "लौकिक अर्थ को बताने वाले वाक्य पौरुषेय होते

हैं। उनमें अविद्यमान को विद्यमान की तरह (माया), विद्यमान को अविद्यमान की तरह (अलीक) दर्शाया जाता है। कभी-कभी तो असत्य या छल के लिये अर्धसत्य (वंचना) भी प्रतिपादित किये जाते हैं। ये न हो तो भ्रम या प्रमाद रूपी दोष तो रहेंगे ही। ऐसा इसलिये है क्योंकि उनमें समग्र दृष्टि होना असाध्य है। परन्तु वेदवाक्य, जो प्रत्यक्षादि के अविषय अलौकिक अर्थों का बोध कराते हैं, उनमें ये दोष नहीं होते क्योंकि ये वाक्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, जिसमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अन्तर्गत हैं, को ध्यान में रखकर कहे गये हैं। अतः वे अपौरुषेय ही हैं।”

प्रश्न :- “ऐसा है तो मनुष्यों को वेद कैसे प्राप्त होते हैं?”

उत्तर - ऐसे निर्दोष मन्त्र मन्त्रद्रष्टाओं द्वारा नाद-स्वर-पद-वाक्य के रूप में व्यक्त होते हैं। वे द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं।”

प्रश्न :- “मन्त्र दूसरों की स्मृति में क्यों नहीं आते?”

उत्तर - जो कोई भी हो, स्मरणसामर्थ्य तो पिछले जन्मों के कर्मानुसार ही होता है। जो केवल आहार-निद्रा-भय-मैथुन में प्रवृत्त रहते हैं, उनको उन्हीं की स्मृति होती है। किन्तु मन्त्रद्रष्टाओं को पिछले जन्मों में किये ये असाधारण वैदिक तप के कारण मन्त्रस्मरण का सामर्थ्य प्राप्त होता है।

इस प्रकार गोविन्द गुरु जी का अध्यापन कार्य आगे बढ़ता रहा। गुरुकुल में ही श्रौतस्मार्त कर्मों के अनुष्ठान को देखते हुये शंकर ने मन्त्र अर्थवाद इत्यादि के प्रामाण्य का निर्णय, कर्मभेद के कारण, कर्माधिकार इत्यादि विषयों से युक्त द्वादश अध्याय वाले मीमांसाशास्त्र का अति अल्प समय में ही अध्ययन कर लिया।

× × ×

गोविन्दभगवत्पाद जी ने उस ईश्वर नामक संवत्सर के कार्तिक मास की शुक्लपक्ष की एकादशी के दिन उषा काल में शंकर का क्रमसंन्यास करने का निश्चय किया। यह पता पड़ते ही सैकड़ों संन्यासी एवं धार्मिक जनों ने उस अभूतपूर्व प्रसंग को देखने की इच्छा से दो दिन पहले ही आकर ओंकारेश्वर के मन्दिरों एवं धर्मशालाओं में डेरा जमा लिया। बहुत से वैदिक कर्म करने वाले पुरोहितों ने भी आकर संन्यास स्वीकार से पहले किये जाने

वाले देवता-ऋषि-दिव्य मनुष्य-भूत-पितृ-मातृ-श्राद्ध, आत्मश्राद्ध और विरज होम अपने से ही कराने की प्रार्थना की। गोविन्द गुरु जी ने उनको यह कहकर वापिस भेज दिया कि ये सब कर्म तो विविदिषा संन्यास में ही करने आवश्यक होते हैं और शंकर तो पहले ही आपत्संन्यास ले चुका है।

तत्पश्चात् गोविन्द गुरुजी की परिचित एक वृद्धा साध्वी आयी और नमस्कार करके बोली, “गुरुजी! मैं शंकर के लिये दो कौपीन लायी हूँ। मैंने उनको गेरु रंग से मिश्रित कोमल नारियल के जल में भिगोकर सुखाया है। उस जल में मैंने नींबू का रस और फिटकरी भी डाली थी। उससे उसका रंग नहीं उतरेगा। कृपया उसे हमारे शंकर को दे दीजियेगा।”

“वह तुम्हारा शंकर है, या हमारा शंकर है?” इस प्रकार विनोद करके गुरुजी ने कहा कि वे शंकर को दे देंगे।

कुछ ही समय बाद, एक दण्ड हाथ में लिये एक वृद्ध ने आकर गुरुजी को नमस्कार किया। “गुरुजी! मैं ईश्वर मन्दिर में सेवक हूँ। मेरा नाम रंकदास है। मैंने सुना है कि एकादशी के दिन हमारे शंकर संन्यासदीक्षा लेंगे। उस समय आप उनको दण्ड देंगे न? मैंने अर्चक से दण्ड कितना बड़ा होना चाहिये यह मालूम कर लिया है। ठीक उसी परिमाण में काटकर, दोनों किनारों को गोल करके लाया हूँ। यह नर्म है, साफ-सुथरा है। मेरी प्रार्थना है कि आप उसे यही दण्ड दीजियेगा” ऐसा कहकर उसने वह दण्ड गुरुजी के सामने रख दिया।

गुरुजी ने पूछा, “क्या तुम शंकर को जानते हो?”

“हाँ गुरुजी, अच्छी तरह जानता हूँ। जब वह मन्दिर आता है तो ‘रंक जी अच्छे हो ना!’, ऐसा कहकर मेरा कुशल पूछता है। कई बार मुझे अंगूर और केले लाकर देता है। हमारा शंकर तो भगवान् ही है गुरुजी!”

“बहुत अच्छा! तुमने दिया है यह बताकर उसे दे दूँगा। ठीक है?”

दीक्षा अगले दिन थी। उस दिन रात को सब शिष्य शंकर को घेरकर गपशप करने लगे। एक ज्येष्ठ शिष्य ने शंकर के सिर पर तीन वर्ष की आयु से वृद्धि को प्राप्त हुये काले गहरे केशों को छूकर पूछा, “शंकर! कल ये केश सब चले जायेंगे। क्या कहते हो?”

“अच्छा हुआ पीछा छूटा”, शंकर ने कहा।

सब जोर से हँस पड़े। सब उसका स्पर्श करना चाहते थे, परन्तु स्पर्श करने से भयभीत थे। उसका व्यक्तित्व ही ऐसा था। फिर भी वे उसका स्पर्श करने का साहस करते। उनका भय उनकी अभिलाषा से पराजित हो जाता था। रात्रि इस प्रकार बीत गयी। उषाकाल में उठकर शंकर ने स्नान किया और आकर गुरु को नमस्कार किया। तदनन्तर गुरुजी की आज्ञानुसार क्षौरिक (नाई) ने शंकर के बाल काटकर उसे साष्टांग नमस्कार किया।

“तुम्हारा नाम क्या है?” शंकर ने उससे पूछा।

“गोविन्दा।”

“सुखी रहो” शंकर ने उसे आशीर्वाद दिया। क्षौरिक ने श्रद्धापूर्वक बालों को अपने नेत्रों से लगाया फिर उनको जहाँ किसी के पैर नहीं पड़ते थे ऐसी जगह गड्ढा खोदकर दबा दिया और मिट्टी से ढंक दिया। स्नान करने के लिये शंकर नदी में उतरा। स्नान समाप्त करके वह नदी में ही खड़ा रहा और गुरुजी की ओर देखा। उनके निर्देशानुसार “ॐ भूः संन्यस्तं मया, ॐ भुवः संन्यस्तं मया, ॐ सुवः संन्यस्तं मया, ॐ भूर्भुवस्सुवः संन्यस्तं मया” इस प्रकार मन्द, मध्यम और उच्च स्वरों में तीन बारी उच्चारण करके जल छोड़कर संकल्प किया। फिर गुरुजी ने शंकर द्वारा “पुत्रेषणा वित्तेषणा लौकेषणा मया परित्यक्ता। अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा” ऐसा कहलवाकर संकल्पजल छोड़ देने के लिये कहा। जल उसी प्रकार दिया गया। बाद में नग्न ही नदी से बाहर आकर शंकर गुरुजी के समीप खड़ा हो गया। गुरुजी ने कौपीन देकर उसे धारण करने के लिये कहा और बताया कि उस वृद्धा ने दिया है। फिर पहनने के लिये गेरुए वस्त्र दिये। तत्पश्चात् प्रणवमन्त्र का उपदेश करके, “रंकदास ने दिया है”, ऐसा कहकर शंकर को दण्ड दिया। भस्म धारण करके, दण्ड और कमण्डलु लेकर बालक शंकर शंकरभगवत्पाद हो गया। उसी क्षण गेरुए वर्ण का सूर्य उदित हुआ। ज्ञानसूर्य का उदय हुआ। मन्दिर के घण्टे, शंख, नगाड़े इत्यादि सभी बज उठे। मुमुक्षुओं की दायीं आँख और दुर्मर्तियों की बायीं आँख फड़कने लगी। एकत्रित जनसमूह में असाधारण उत्साह का संचार हो आया। सबने एक कण्ठ से उद्घोष किया, “सनातन धर्म की जय हो।”

उसी दिन दोपहर को गुरुजी ने ब्रह्मसूत्र का पाठ आरंभ किया। “आज मैं तुम्हें उपनिषदों का सार बताना चाहता हूँ। वह प्रत्येक को प्रतिदिन प्राप्त होने वाले अनुभव पर ही आधारित है। इसलिये उसे सरल भाषा में समझाया जा सकता है। पहले तुम इस ढंग से समझ लो, बाद में इसे शास्त्रीय चर्चा द्वारा ग्रहण करना सरल हो जायेगा।”

“चाहे मनुष्य कितना भी प्रयत्न क्यों न करे उसके दुःख का परिहार और सुख की प्राप्ति नहीं होती। ‘ऐसा क्यों?’ पूछा जाये तो उपनिषद् इस प्रकार समझाते हैं, ‘क्योंकि तुम नहीं जानते कि तुम कौन हो। अगर तुम समझ जाओ कि तुम कौन हो तो लेशमात्र भी दुःख तुम्हें नहीं हो सकता। तुम आनन्द के सागर ब्रह्म हो।”

“लेकिन मैं तो जानता हूँ कि मैं कौन हूँ। मेरा नाम शंकर है। मैं दस वर्ष का हूँ। मैं एक संन्यासी हूँ।”

“कल रात तुम कहाँ सोये थे?”

“मन्दिर के एक कोने में।”

“क्या सपना देखा?”

“मैंने सपना देखा नर्मदा को पार करके पर्वतों पर उड़ रहा हूँ।”

“अब बताओ, तुम मन्दिर में सोये शंकर हो या जो पर्वतों पर उड़ रहा था वह व्यक्ति हो?”

“स्वप्नावस्था में मेरा शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं था, किन्तु मन के साथ सम्बन्ध था। इसलिये ऐसा स्वप्न देख सका।”

“उसके बाद गहरी नींद आयी या नहीं?”

“आयी।”

“उस गहरी नींद में तुम कौन थे बताओ?”

“नहीं जानता।”

“सोच-विचारकर बताओ।”

“उसके बारे में विचार करना भी संभव नहीं है।”

“क्यों संभव नहीं है?”

“उस समय मेरा शरीर से सम्बन्ध नहीं था, मन के साथ भी सम्बन्ध नहीं था। इसलिये, उस समय मैं कौन था यह चिन्तन संभव नहीं है।”

“इसका अर्थ क्या है तुम ही देखो। शरीर और मन दोनों का सम्बन्ध रहने पर तुम वह थे जो मन्दिर में सो रहा था। केवल मन का सम्बन्ध रहने पर तुम वह थे जो पर्वतों पर उड़ रहा था। परन्तु दोनों का सम्बन्ध न रहने पर तुम कौन हो यह तुम नहीं जानते। केवल इतना ही जानते हो कि तब शरीरादि के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। सुनो, मैं बताता हूँ कि उस समय तुम कौन थे। शरीर और उसमें स्थित इन्द्रियाँ, मन, प्राण ये सब मिलकर क्षेत्र कहलाते हैं। इसके ज्ञाता तुम क्षेत्रज्ञ हो। क्षेत्र तुम्हारा विषय है। ज्ञाता ज्ञात विषय से भिन्न ही होता है। वही तुम मन का सम्बन्ध रहने के कारण स्वप्न को जानते हो। मन और शरीर के सम्बन्ध से जगत् को जानते हो। गाढ़निद्रा में तुम एकमात्र ही होते हो। वही है तुम्हारा वास्तविक स्वरूप। उपनिषद् ऐसे तुमको ब्रह्म कहते हैं।”

“ब्रह्म क्या है?”

“वह इस सम्पूर्ण जगत् का कारण है, वैसे ही जैसे स्वर्ण आभूषण का कारण होता है। आभूषण कार्य है। वह उत्पन्न होता है, बदलता रहता है और नष्ट हो जाता है। इस प्रकार परिवर्तनशील आभूषण असत्य है। परन्तु स्वर्ण नहीं बदलता, इसलिये वह सत्य है। उसी प्रकार जगत् असत्य है, ब्रह्म सत्य है। यह ब्रह्म का पहला लक्षण है। आभूषण के दृष्टान्त द्वारा ही ब्रह्म का दूसरा लक्षण जाना भी जा सकता है। आभूषण अलग-अलग होते हैं, एक में दूसरा नहीं होता। एक-एक की सीमा होती है, अन्त होता है। परन्तु स्वर्ण तो सब आभूषणों में व्याप्त है, अर्थात्, आभूषणों में विद्यमान अन्तत्व स्वर्ण में नहीं है। अतः वह अनन्त है। उसी प्रकार जगद्वस्तुओं का अन्त होता है ब्रह्म का नहीं। वह अनन्त है। यह ब्रह्म का द्वितीय लक्षण है। अब तृतीय लक्षण के लिये अपनी बुद्धि को ही देखो। वह भी ब्रह्म का कार्य ही है। उससे (बुद्धि से) तुम विषयों को जानते हो। बुद्धि में ‘अँगूठी का’, ‘कंगन का’, ‘हार का’ इस तरह का ज्ञान उत्पन्न होता है। ये सब ज्ञान असत्य और सान्त हैं। परन्तु इन सब ज्ञानों में अन्तर्भूत जो ज्ञानमात्र है वह सत्य है, अनन्त है। यह ब्रह्म का तृतीय लक्षण है। बुद्धिसम्बन्ध रखकर जो ज्ञान प्राप्त होता है वह असत्य

होता है। उसके बिना तुम सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म होते हो। वही तुम्हारा निजस्वरूप है। वहाँ जो आनन्द है वह सहज होता है, विषयों की अपेक्षा नहीं रखता। वहाँ दुःख नहीं होता। अतः 'मैं वह ब्रह्म हूँ, शरीरादि नहीं, इस तरह दृढ़ अवगति होने पर हमेशा उस आनन्द में ही रहोगे। इसका मनन करते रहो। कल इसी विषय को जब मैं शास्त्रभाषा में कहूँगा, तो तुम सरलता से समझ सकोगे।'

अगले दिन पाठ आरंभ करने से पूर्व गुरुजी ने पूर्वमीमांसा की समीक्षा करते हुये कहा "इस लोक और परलोक के भोगों की प्राप्ति के लिये धर्मजिज्ञासा होती है। सभी सांसारिक सुख क्षणिक हैं, नगण्य हैं, अशुद्ध हैं, दुःख से मिश्रित हैं, श्रमसाध्य हैं, अनेक दोषों से युक्त हैं। स्वर्गादि सुख भी अनित्य ही हैं। कामीजन इनमें ही मग्न रहते हैं जबकि विवेकीजन नित्य, निर्दोष, आत्यन्तिक सुखरूपी मोक्ष को चाहते हैं। यह सुख उत्पाद्य नहीं है—अर्थात् एक घट की तरह इसका उत्पादन नहीं किया जा सकता। आप्य नहीं है—अर्थात् कहीं और जाकर प्राप्त नहीं किया जा सकता। विकार्य नहीं है—अर्थात् दूध जिस तरह दही में परिवर्तित होता है उस प्रकार किसी को परिवर्तित करके नहीं प्राप्त किया जा सकता। संस्कार्य नहीं है—अर्थात् जैसे औषधियों में गुण जोड़े जाते हैं या दोष निकाले जाते हैं इस तरह किसी का संस्कार करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। वह सर्वदा ही हममें विद्यमान है। किन्तु अज्ञान के कारण अनुभव में नहीं आता। यह बात सुनकर लोग आश्चर्य करते हैं। लेकिन यह कितनी सरलता से समझ आ सकता है देखो:

सुषुप्ति में जीव का स्थूल और सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता और अत्यधिक आनन्द का अनुभव होता है यह सबका अनुभव है। उस समय जो सुख से सोया हुआ होता है वही क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र का ज्ञाता है। शरीर ही क्षेत्र है। आनन्द क्षेत्रज्ञ का स्वभाव होता है। यह अनुभव होने पर भी, नींद से उठते ही जाग्रदवस्था में यह भूलकर, शरीर यानि क्षेत्र के साथ अविद्यमान सम्बन्ध की कल्पना करके, अपने को स्त्री, पुरुष इत्यादि मानते हुये सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगता है। इस प्रकार अविद्यमान सम्बन्ध की जो क्षेत्रज्ञ में कल्पना की जाती है उसे अध्यास कहते हैं। अपने आपको गलत समझना ही अध्यास है। वह अज्ञान, जिसके कारण क्षेत्रज्ञ 'मैं कौन हूँ' यह



नहीं जान पाता, ही अध्यास का कारण है। 'सुषुप्ति में मैं कौन था? कहाँ था? यह नहीं जानते हुये मैं सुख से सोता रहा ऐसा कहकर सब उठने के बाद अपना अज्ञान ही बताते हैं। स्वयं कौन है यह यदि जान लेता है तो अज्ञान नष्ट हो जाता है। तब अध्यास भी नष्ट हो जाता है। प्रत्यक्ष देखकर या बुद्धि द्वारा अनुमान लगाकर 'क्षेत्रज्ञ में कौन हूँ' यह नहीं जान सकता। सुषुप्ति में ज्ञानेन्द्रियों और बुद्धि का प्रवेश ही नहीं है। अतः, यह वेदों द्वारा ही जाना जा सकता है।

वेद बताते हैं कि क्षेत्रज्ञ ब्रह्म है। ब्रह्म कौन है इसका निश्चय ब्रह्मसूत्र वेद के आधार पर करते हैं। अतः वेदान्तशास्त्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र से प्रारंभ होता है। अतः - क्योंकि सांसारिक और पारलौकिक सुख अनित्य हैं इसलिये; अथ-विवेक वैराग्यादि की प्राप्ति के बाद; ब्रह्मजिज्ञासा-ब्रह्म को जानने की इच्छा करनी चाहिये, अर्थात् ब्रह्म के विषय में विचार करना चाहिये। यह ब्रह्म जगत् के द्वारा ही जाना जा सकता है; क्योंकि जगत् ब्रह्म का कार्य है। ब्रह्म से ही जन्म लेकर, ब्रह्म में ही रहते हुये, ब्रह्म में ही लयरूप विकार को प्राप्त होता है। दूसरा सूत्र- 'जन्माद्यस्य यतः' यही बताता है। अस्य- इस जगत् का; जन्मादि जन्म, स्थिति और लय; यतः-जिससे वह ब्रह्म। इसका अर्थ है कि ब्रह्म जगत् का निमित्तकारण भी है और उपादानकारण भी। ब्रह्म का स्वरूप इस वाक्य से निश्चित होता है।"

"निश्चय करने का क्रम इस प्रकार है। घट का निमित्त कुम्हार है और उपादान मिट्टी है। पहले उपादानत्व को देखो। घट, ईंट, खपरैल आदि मिट्टी के विकार हैं- वे बनते हैं और बिगड़ते हैं; अर्थात्, परिवर्तनशील हैं। किन्तु मिट्टी नहीं बदलती, वह एकरूप ही रहती है। जो नहीं बदलता उसे सत्य कहते हैं और जो बदलता है उसे असत्य कहते हैं। अतः घट इत्यादि असत्य हैं। मिट्टी सत्य है। उसी प्रकार, जगत् असत्य है और उसका उपादान ब्रह्म सत्य है।"

"ब्रह्म का एक और लक्षण है अनन्तत्व, अर्थात् ब्रह्म अन्त से रहित है परिसीमित नहीं है। इसका निश्चय इस प्रकार होता है; घट खपरैल नहीं है और खपरैल घट नहीं है। दोनों की सीमा है। परन्तु मिट्टी इन दोनों में व्याप्त है इसलिये इनकी तरह सीमित नहीं है। इसी प्रकार, जगत् की सभी वस्तुओं

की कोई न कोई सीमा होती है। परन्तु सदा सबमें व्याप्त ब्रह्म की सीमा नहीं है। अतः, ब्रह्म अनन्त है।”

“ब्रह्म का तीसरा लक्षण है ज्ञान। इसका निश्चय इस प्रकार होता है। जिस प्रकार कुम्हार इच्छापूर्वक और विचारपूर्वक घट की सृष्टि करता है उसी प्रकार हिरण्यगर्भ में प्रविष्ट ईश्वर इस जगत् की सृष्टि करता है। कुम्हार का घटज्ञान, खपरैलज्ञान आदि घट, खपरैल आदि के समान ही मिथ्या है, क्योंकि वे परिवर्तनशील हैं। लेकिन इन ज्ञानों में जो ‘घट का’, ‘खपरैल का’ इत्यादि विशेषणों से रहित विशेष्य ज्ञान है, वह सत्य है। इसी प्रकार, जगत् के निमित्तकारण में, उत्पन्न होने वाली जगद्वस्तुओं का विशेषज्ञान असत्य होने पर भी, उनमें विद्यमान विशेष्यज्ञान सत्य है। यही ज्ञान ब्रह्म का तृतीय लक्षण है।

इस प्रकार ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है। यहाँ जो चमत्कार है उसकी ओर ध्यान देना चाहिये। जगत् असत्य, जड़ और सान्त होने पर भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। किन्तु ब्रह्म जगत् से भिन्न है। यह वेदान्त का सारसर्वस्व है।”

“अब जीव के विषय में पहले जो कहा गया था उसे याद करो। जीव का वास्तविक स्वरूप जाग्रत और स्वप्न में नहीं पता पड़ता क्योंकि वह शरीर के साथ सम्बन्ध देखता है। उसका वास्तविक रूप सुषुप्ति में होता है। किन्तु उस समय उसको ‘मैं कौन हूँ’ यह ज्ञान नहीं होता, अज्ञान रहता है। ‘मैं कौन हूँ’ यह कैसे जाना जा सकता है? श्रुति से जाना जा सकता है। श्रुति के अनुसार उस समय ‘मैं ब्रह्म हूँ’। परख कर देखो कि यह सही है या नहीं। सुषुप्ति में अपना किसी भी विकार या व्यवहार से सम्बन्ध नहीं होता, इसलिये किसी भी प्रकार के परिवर्तन के लिये अवसर नहीं होता। इसका अर्थ है कि ‘मैं सत्य हूँ’। साथ ही उस समय विशेषज्ञान नहीं होता, फिर भी विशेष्यज्ञान तो रहता ही है। वह सत्य है, इसलिये उसका अभाव नहीं हो सकता। अतः, उस समय मैं ज्ञान भी हूँ। और उस समय अन्तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले देश-काल भी नहीं होते। अतः मैं अनन्त भी हूँ। इसलिये, ब्रह्म के तीनों लक्षण मुझमें ही हैं। इतना ही नहीं, श्रुति ब्रह्म का आनन्द इस प्रकार एक और लक्षण बताती है। वह भी सुषुप्ति में अनुभवगम्य है। अतः सुषुप्ति में विद्यमान अहं ब्रह्म ही है यह निश्चय होता है।”

शंकर ने पूछा, “तीनों लक्षण अपने में भी हैं, ब्रह्म में भी हैं, फिर भी मैं और ब्रह्म अलग-अलग हो सकते हैं न?”

“यह नहीं हो सकता, क्योंकि विशेषज्ञान दो नहीं हो सकते। उससे भिन्न कुछ भी होगा तो वह ज्ञेय ही होगा। अतः, क्षेत्रज्ञ ब्रह्म ही है, क्षेत्रज्ञ ही ब्रह्म है। ‘जो मैं हूँ, यह वही है। जो यह है, वह मैं ही हूँ – ‘योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्’, ऐसा श्रुति कहती है। यह कहकर गोविन्दभगवत्पाद जी ने उपदेश समाप्त किया। इस सर्वोत्कृष्ट ज्ञान के कारण शंकर देहादि जगत् से पूर्णतया विमुख हो गया और अपनी आँखें बन्द करके बैठ गया। उसका शरीर निश्चल हो गया। श्वासक्रिया बन्द हो गयी। मुख पर अलौकिक कान्ति छा गयी। गुरुजी बहुत काल तक उसको देखते रहे। इस प्रचण्ड बालसंन्यासी को देखकर वे परम सन्तुष्ट हुये। बहुत देर बाद शिष्य का सिर सहलाकर वे बोले, “शंकर! उठो”। शंकर ने उठकर हाथ जोड़े और ‘न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः’ इस मन्त्र का उच्चारण करके गुरु को साष्टांग नमस्कार किया। गुरुजी ने बालक को गले से लगा लिया।

× × ×

गुरुजी ने संकेत दिया कि उस बहुधान्य संवत्सर की चातुर्मास्य पूजा वर्ष शंकर ही करेंगे। यह पता पड़ते ही ओंकारेश्वर के सभी आश्रमों के संन्यासी और तपस्वी पूजा में भाग लेने की तैयारी करने लगे। सब शंकर द्वारा की जाने वाली पूजा को देखना चाहते थे। केवल इतना ही नहीं, उनको यह भय भी था कि चातुर्मास्य के बाद शंकर ओंकारेश्वर को त्याग देंगे। पूजा की व्यवस्था तथा सहस्रो जनों के भोजन की व्यवस्था मन्दिर की ओर से ही की गयी थी। सारी व्यवस्था वैभवपूर्ण चलने पर भी सबके मन में एक प्रकार की व्याकुलता थी। पूजा के समाप्त होने पर गोविन्द भगवत्पाद और शंकर को नमस्कार करके जनसमुदाय ने हिम्मत जुटा कर शंकर से पूछा: “गुरुवर! लोग कह रहे हैं कि चातुर्मास्य के बाद आप यहाँ से चले जायेंगे। क्या यह सच है?” “ऐसा क्या? मैं तो नहीं जानता”, कहकर शंकर ने उनकी बात पर अपना आश्चर्य प्रकट किया। परन्तु लोगों को विश्वास नहीं हुआ।

वर्षा ऋतु प्रारंभ हुयी। छाते बाहर निकाले गये। सबके होंठों पर एक ही

बात थी: “हमें पता है कि यहाँ पर बहुत वर्षा होती है; इस बार तो लगता है कि बहुत ही भीषण पानी बरसेगा।” नर्मदा का जल स्तर बढ़ता जा रहा था। एक दिन दोपहर के समय मूसलाधार बारिश हो रही थी। भयंकर बिजली और बादल कड़क रहे थे, गायें ‘अम्ब....अम्ब.....’ क्रन्दन करती हुयी गोशालाओं की ओर दौड़ रही थीं। वृद्ध गोविन्दभगवत्पाद गुफा में थे। गुफा के अन्दर नदी के प्रवाह का गर्जन नहीं सुनायी पड़ता था। रात होते ही गुरुजी लेट गये। शंकर और अन्य शिष्य पास वाले मन्दिर में थे। वहाँ चर्चा चल रही थी: “नदी का जल ऊपर आ रहा है। सम्भव है कि गुफा में भी जल प्रवेश कर जाये। क्या करें?” कुछ ही देर बाद पच्चीस वर्षीय तीन शिष्यों के साथ शंकर नदी को देखने के लिये निकले। शाम का समय समाप्त होने को था; घने बादलों के कारण महान् अन्धकार छा गया था। घाट पर उतरते समय उन्होंने देखा कि पानी तीसरी सीढ़ी तक चढ़ आया था। यह स्पष्ट था कि जल अभी और चढ़ने वाला था। शंकर उन तीनों के साथ मन्दिर की ओर दौड़े। सभी शिष्य घबराकर उनको घेरकर खड़े हो गये। शंकर उन्हें सम्बोधित करते हुये बोले “बाढ़ बहुत तीव्रता से ऊपर आ रही है। शायद हम सो नहीं पायेंगे। सब जागरूक रहो। अगर खतरे की जरा भी संभावना हुयी तो मैं तुमको सूचित करूँगा। तुम्हें गुरुजी को उठाकर मन्दिर के चबूतरे पर उनके सोने की व्यवस्था करनी पड़ेगी। तुम में से कुछ मन्दिर में ही रहो। तुम तीन गुफा की दीवार के पास जाकर खड़े हो जाओ।” ऐसा कहते ही सबने अपनी धोतियाँ कसकर घुटनों के ऊपर बांध लीं। शंकर ने भी ऐसा किया और उन्हें निर्देश दिया कि कोई भी नदी की ओर न आये सब अपने-अपने स्थानों पर डटे रहें। फिर अपना दण्ड-कमण्डल उठाकर शंकर ने नदी की ओर प्रस्थान किया।

रात के साढ़े ग्यारह बजे थे और चारों ओर घुप्प अन्धेरा था। कभी-कभी बिजली कड़क उठती थी। उसके प्रकाश में शंकर ने देखा कि पूर्व से पश्चिम की ओर बहती नदी का जल दूसरी सीढ़ी तक पहुँच चुका था। शंकर उस विशाल सीढ़ी पर पूर्वाभिमुख होकर पद्मासन में बैठ गया और कमण्डल को अपने सामने स्थापित कर दिया। फिर आँखें बन्द करके पूरक से ‘ओं भूः ओं भुवः ओं सुवः ओं महः ओं जनः ओं तपः ओं सत्यम्, ओं तत्सवितुर्वरेण्यं

भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ओमापो ज्योतिरसो अमृत ब्रह्म भूर्भुवस्सुवरोम्' कहते हुये कुम्भक किया। सहस्रार से आरंभ करके प्रत्येक चक्र में व्यष्टि-समष्टि देवताओं का स्मरण करते हुये मूलाधार पहुँचकर रेचक किया। पुनः पूरक करके लयक्रम से मूलाधार से स्वाधिष्ठान आकर बुद्धि को पहले काकिनी में स्थापित करके तत्पश्चात् कुम्भक करके फिर उसे वरुण में स्थिर करके समाधिस्थ हो गया। बस इतना ही।

× × ×

सुबह तक वर्षा धीमी पड़ चुकी थी। गुरुजी को उठा हुआ जान गुफा के बाहर खड़े शिष्य अन्दर आ गये।

“क्या वर्षा रुक गयी है?” गुरुजी ने पूछा।

“पूरी तरह बन्द तो नहीं हुयी है परन्तु कम हो गयी है।”

“शंकर को बुलाओ”

“वह नदी पर गया है। मध्यरात्रि में हमें आपके पास छोड़कर वह अपना कमण्डल और दण्ड लेकर नदी पर चला गया और साथ में यह भी कहा कि कोई भी नदी की ओर मत आना। रात भर मूसलाधार वर्षा होती रही।”

यह सुनते ही व्याकुल गुरुजी बाकी शिष्यों के साथ नदी की ओर गये। वहाँ उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा। शंकर समाधि में थे; उनके सामने उनका कमण्डल था। सामने से बाढ़ का भीषण प्रवाह आ रहा था परन्तु उसके पीछे सबकुछ शान्त था। यह क्या रहस्य था जब वे जानने के लिये पास गये तो मन्द प्रकाश में उन्होंने देखा कि अगस्त्य के मुख के समान शंकर का कमण्डल बाढ़ के प्रवाह को निगल रहा था। वशिष्ठ के ब्रह्मदण्ड के समान, जिसने कौशिक के ब्रह्मास्त्र सहित सब अस्त्रों को ग्रस लिया था, शंकर का कमण्डल भी बाढ़ के भीषण प्रवाह को निगल रहा था। शान्त हुयी नदी शंकर की नाभि के स्तर पर बह रही थी। शंकर तो बाह्यप्रज्ञा से रहित थे। गुरुजी ने उसे उठाया नहीं; उन्होंने स्नान करके नर्मदा देवी को नमस्कार किया और शिष्यों को बोले, “कोई उसे मत उठाना। ध्यान रखो कोई उसके पास न जाये। सूर्योदय होते ही वह स्वयं उठ जायेगा।” इतना कहकर गुरुजी चले गये।

शिष्यों ने भी गुरुजी का अनुसरण किया। सब शिष्य समझ चुके थे कि शंकर एक महान् सिद्ध पुरुष हैं। जो भक्ति उनमें अपने गुरु के प्रति थी, वही भक्ति अब शंकर के प्रति भी जाग उठी। अब उन्हें शंकर को एकवचन में सम्बोधित करने में भय लगने लगा। उन्होंने बहुवचन का आश्रय लिया। 'तुम' अब 'आप' बन गया। गुरुजी की तो खुशी का ठिकाना नहीं रहा। यह बड़ी सन्तुष्टि का विषय था कि उनकी दी हुयी विद्या सफल हुयी थी। यह स्पष्ट था कि शंकर का अवतार लोकोद्धार के लिये हुआ था।

कुछ दिनों बाद की एक रात। गुरुजी की शयनव्यवस्था करके, उन्हें नमस्कार कर फिर स्वयं जाकर सोने का शिष्यों का नियम था। उस रात भी ऐसा ही था। अन्त में सोने को तैयार शंकर ने आकर गुरुजी को नमस्कार किया। गुरुजी ने पूछा, "नींद आ रही है या कुछ देर बैठ सकते हो?"

"नींद नहीं आ रही है; बैठता हूँ।" शंकर ने उत्तर दिया।

"शास्त्रपाठ समाप्त हो चुका है, कुछ शेष नहीं रह गया है। मैंने तुम्हें शास्त्रचर्चा के लिये नहीं रोका है। परन्तु कुछ और विषयों की चर्चा करने का समय अब आ गया है। गुर्जरदेश से व्यासपूजा के लिये यात्री आये थे। उन्होंने जो बताया उससे मैं बहुत व्याकुल हूँ। यह आने वाली विपत्ति की पूर्वसूचना है। यहाँ से दक्षिण दिशा में स्थानक नाम का एक नगर है। डेढ़ सौ वर्ष पूर्व नौकाओं से आये अरबों ने उस पर आक्रमण किया था। उस समय कावेरी से लेकर नर्मदा तक चालुक्य के पुलिकेशी द्वितीय का साम्राज्य था। उसने अवनिजाशय पुलिकेशी नामक एक व्यक्ति को दक्षिण गुर्जर देश के नवसारिका नगर के माण्डलिक के तौर पर नियुक्त किया था, जिसने बड़ी वीरता से अरबों को खदेड़ दिया। हाल में, मेरे बचपन के समय, मीरखासी नामक एक अरब ने सिन्धुदेश पर आक्रमण किया। वहाँ महाराज हर्ष द्वारा पोषित बहुत से बौद्ध थे। उन्होंने मीरखासी की सहायता की। राजा धीर युद्ध में मारे गये। पचास वर्षों तक अरबों ने लोगों पर अमानवीय अत्याचार किये। बाद में हुये युद्धों में उन्हीं को पीछे हटना पड़ा। देश के पश्चिमी भाग में धर्म तीव्रता से अवनति की ओर जा रहा है। इस सबका मूलकारण बौद्ध ही है। हालांकि उनका बल अब बहुत न्यून है, तो भी अभी बचा हुआ है।"

"राजा लोग सेना के बल से आक्रमण करके देशों को अपने अधीन

करते हैं; परन्तु बुद्ध ने कैसे इतने लोगों को अपने वश में कर लिया?" शंकर ने पूछा।

“यह कैसे होता है देखो। धर्म में आस्था रखना मनुष्य का स्वभाव है। इसलिये अपौरुषेय सनातन वैदिकधर्म लोगों में दृढ़ता से स्थित है और भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले लोग परस्पर विश्वास और प्रेम से शान्तिपूर्वक साथ-साथ रहते हुये सन्तुष्ट जीवन बिताते हैं। ऐसा इसलिये संभव है क्योंकि वैदिक धर्म में सभी धर्म निहित हैं। जब वैदिकधर्म अवनति पर होता है तब कुछ लोग, जिन्हें अपनी बुद्धि पर अधिक विश्वास होता है, अपने अनुमान पर ही आधारित कुछ सिद्धान्तों को लोगों के सामने रखते हैं। जो लोग वैदिकधर्म से भली-भांति परिचित नहीं होते वे उनके वचनों से प्रभावित होकर मुग्ध हो जाते हैं। ये लोग नहीं समझ पाते कि वे सिद्धान्त एकदेशीय हैं। ऐसे अनुयायी अन्य सिद्धान्तों के प्रति असहिष्णु होते हैं। वे किसी प्रकार की चर्चा करने को राजी नहीं होते बस किसी भी प्रकार अपने धर्म को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। हिंसक पशुओं के समान वे उनको मारने से भी नहीं झिझकते जो अपना मतपरिवर्तन नहीं करते। अगर वे अपना लक्ष्य इस प्रकार नहीं पूरा कर पाते तो छल-कपट द्वारा भी लोगों का धर्मपरिवर्तन कराने से नहीं चूकते। इससे सर्वत्र अशान्ति फैल जाती है। इस समय यही हुआ है। किन्तु सनातन वैदिकधर्म ऐसा नहीं है। वह अपौरुषेय है। चूंकि सभी मतों का उसमें समावेश है इसलिये संघर्ष का कोई अवसर ही नहीं पैदा होता परन्तु अगर उसपर कोई संघर्ष थोपता है तो उसके दमन की व्यवस्था भी वैदिकधर्म में है।”

“अतः इस वैदिकपरम्परा की समग्रदृष्टि मन में रखकर परिस्थिति को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये। राक्षसी प्रवृत्ति के लोग सदा रहते ही हैं, इसलिये यह काम भी सदा चलते ही रहना चाहिये। इसमें प्रमुख पात्र ब्राह्मणों और क्षत्रियों का है। राजा के पास धैर्य, पराक्रम के साथ-साथ शत्रु-मित्र के बल-अबल का विवेचन करने का सामर्थ्य भी होना चाहिये। इसके अलावा वर्तमान स्थिति में जो करणीय है उसका निश्चय करने वाली सूक्ष्म एवं तीव्र बुद्धि तथा दूरदर्शिता भी होनी चाहिये। ब्राह्मणों में त्याग, तप, विद्या, मैत्रीभाव आदि गुण अपेक्षित हैं। लोगों के योगक्षेम के प्रति दोनों में निष्ठा होनी

चाहिये। चन्द्रगुप्त एवं विक्रमादित्य जैसे राजाओं ने अपने क्षात्रतेज के बल पर ऐसे कार्य सम्पन्न किये। परन्तु वह तेज अब शिथिल पड़ गया है। उसको फिर दृढ़ करना है। कुमारिल भट्ट जैसे ब्राह्मण अपने दायित्व का पालन करते हुये सक्रिय हैं। उनके प्रयत्न प्रशंसनीय हैं। किन्तु यह कार्य इससे भी व्यापक स्तर पर होना चाहिये। धर्म की समग्रदृष्टि को मन में रखकर चारों वर्णों के लोगों में धर्मजागृति पैदा करनी चाहिये। तभी व्यक्तिनिष्ठ मतों का प्राबल्य क्षीण होगा। इस महान् कार्य को आधार देने के लिये विद्वानों में बादरायण ब्रह्मसूत्रों के द्वारा उपनिषदों का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये। इसके आधार पर ब्राह्मणों का अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उपासना, श्रौत-स्मार्त आदि कर्म करने का मार्ग सुगम हो जाता है। इनके तप के प्रभाव से सामान्यजन भी धर्मनिरत हो जाते हैं। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।' चारों वर्णों के लोग एक ही मंच पर पुराणश्रवण करें - मन्दिरों के उत्सवों में एक साथ भाग ले- तीर्थयात्राएँ करें- पर्वों पर नदी-समुद्रों में स्नान करें- ऐसे कार्यक्रमों की व्यवस्था की जाये तो सबके मन में 'हम एक ही परिवार के सदस्य हैं' ऐसा भाव उत्पन्न होता है। इसको ध्यान में रखते हुये, मन्दिरों में, विशेषकर तीर्थों में, यथोचित संगठन होना चाहिये। कुल मिलाकर भगवान में भक्ति और वेदोक्त धार्मिक आचरण को चारों वर्णों में स्थापित करना चाहिये। तुम इस महान् कार्य का निर्वहन करो। तुम्हारा अवतार इसी के लिये हुआ है। अतः, तुम प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखो। विद्वानों के साथ सम्भाषण करो। सम्भाषण समाप्त होने पर 'हम वाद में पराजित हुये हैं' ऐसा भाव किसी के मन में नहीं आना चाहिये; बल्कि, उनमें धन्यताभाव का संचार होना चाहिये कि 'हमें सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ'। उनके हृदयों को जीतो। अविरत रूप से संचार करते रहो। मार्गशीर्ष मास के प्रारंभ होते ही यात्रा शुरू कर दो। इस समय सिन्धुदेश जाना उचित नहीं है; वहाँ मत जाओ।"

"सौराष्ट्र जाओ और वहीं सिन्धुदेश की परिस्थिति मालूम करो। उसके बाद काशी जाना। इस कार्य के निर्वहन के लिये तुम्हें आवश्यक आयु और आरोग्य प्राप्त हो।"

शंकर ने "भगवन्! आपके आशीर्वाद से ही मैं इस कार्य को करने में समर्थ हो सकता हूँ। मुझे आशीर्वाद दीजिये", ऐसा कहकर नमस्कार किया।

• • •



## अध्याय तीन ओंकारेश्वर से सोमनाथ

अगले दिन गुरुजी ने सौराष्ट्र में अपने भक्तों को यह सन्देश भेज दिया कि शंकर सोमनाथ के लिये प्रस्थान कर चुके हैं। यह निश्चय किया गया कि शंकर अपनी यात्रा मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की तृतीया को भिक्षा के बाद आरंभ करेंगे। कुछ ही क्षणों में यह समाचार आग की तरह चारों ओर फैल गया। शंकर के साथी ब्रह्मचारियों को तो असह्य वेदना हुयी। उस दिन मन्दिर की ओर से शंकर के प्रस्थान के उपलक्ष्य में एक समारोह का आयोजन किया गया तथा ओंकारेश्वर के समस्त साधु और तपस्वियों के लिये भव्य भोज का प्रबन्ध किया गया। सभा में मन्दिर के अध्यक्ष ने कहा—

“यह हमारा सौभाग्य है कि परमपूज्य गोविन्दभगवत्पाद जी ने अपनी वृद्धावस्था में हमारे गाँव को निवास के लिये चुना। अनेक शिष्य उनका प्रिय कार्य धर्मोत्थान करने के लिये परिव्राजक के रूप में संचार कर रहे हैं। उन सबमें मुकुटमणि आबालवृद्धप्रिय हमारे शंकर भगवत्पाद जी भी उसी कार्य के लिये हमसे विदा ले रहे हैं। अब तक जो हम सबका दिल जीत चुके हैं, वह आने वाले दिनों में भारत के प्रत्येक जन का दिल जीत लेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं है।”

अध्यक्ष के भाषण के बीच में ही कोई जोर से चिल्ला उठा, “हमारे शंकरभगवत्पाद की”, जिसके उत्तर में वहाँ उपस्थित जनसमूह ने भावावेश में एक साथ कहा, “जय हो! जय हो!”

अध्यक्ष ने फिर अपना भाषण जारी रखते हुये कहा, “हमारे आदरणीय शंकर को भगवान् दीर्घायु और आरोग्य प्रदान करे। मैं...मैं...मैं...”, इस प्रकार कुछ भी बोलने में असमर्थ हो वह फूट-फूटकर रोने लगे। सभा में सब आँसू बहाने लगे।

शंकरभगवत्पाद खड़े होकर बोले, “परमप्रिय बन्धु! मैं आपको एक स्तोत्र सिखाता हूँ, मेरे साथ बोलिये, ‘गोविन्दं परमानन्दं....’।” सबने भावपूर्ण होकर स्तोत्र का पाठ किया।

“मैं नहीं जानता कि क्या पुण्य कर्म थे जो मुझे ओंकारेश्वर ले आये। यहाँ मुझे परमपूज्य, ब्रह्मविदों में वरिष्ठ, वात्सल्यपूर्ण गुरु प्राप्त हुये। मेरा जीवन पावन हो गया। तीन वर्षों तक आपने मेरा बहुत ध्यान रखा और प्रेम दिया। मैं आपका सदैव ऋणी रहूँगा। मैं ओंकारेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि आप में से एक-एक को निर्बाध सुख और शान्ति प्राप्त हो। मुझे यहाँ से जाना है, कृपया अनुमति दीजिये।” इतना कहकर शंकरभगवत्पाद बैठ गये। उसके बाद भोजन हुआ।

जाने के लिये तैयार शंकर ने गुरु को नमस्कार किया। उनका सिर सहलाते हुये गुरुजी ने उन्हें विदा किया। जब शंकर हाथ में दण्ड और कमण्डल लिये चलने के लिये तैयार हुये तो लोगों के सब्र का बांध टूट गया और विरह-वेदना न सह सकने के कारण वे उनके पीछे-पीछे चलने लगे। शंकर चलते जा रहे थे, लोग उनके पीछे दौड़ रहे थे, फिर भी वे उन तक पहुँच नहीं पा रहे थे। यह सभी के लिये है। कोई शायद उनकी गयी दिशा में जा तो सकता है; परन्तु उन तक पहुँच नहीं सकता।

लगभग तीन वर्ष पूर्व शंकर घर छोड़कर अकेले ही कालड़ी से निकल पड़े थे। अब एक बार फिर वे अकेले ओंकारेश्वर से निकल पड़े। अन्तर इतना ही था कि उस समय वह आठ वर्ष का बालक था जिसे पता नहीं था कि वह कहाँ जा रहा है। अब वह बारह वर्ष का है और सोमनाथ जाने के लिये निकला है जहाँ सैकड़ों लोग उसके स्वागत में प्रतीक्षा कर रहे हैं। कहीं भी न रुकते हुये, लगातार चलते हुये वह दो सप्ताह के भीतर नवश्री नामक शहर पहुँच गये। वहाँ सोमनाथ के लोग उनकी प्रतीक्षा में खड़े थे। उन्होंने बताया कि पैदल जाने में बहुत समय लगेगा इसलिये समुद्र पार करने के लिये नौका का प्रबन्ध किया गया है। सोमनाथ पहुँचते-पहुँचते दोपहर हो गयी। शंकर ने स्नान करके सोमनाथेश्वर के दर्शन किये। तत्पश्चात् भिक्षा हुयी। शाम को चार बजे एक सभा का आयोजन किया गया। मन्दिर के अध्यक्ष ने ही सभा की अध्यक्षता संभाली। उन्होंने शंकर से पूछा, “इतनी लम्बी यात्रा से आप थक गये होंगे?”

शंकर ने उत्तर दिया कि उनकी यात्रा सुखद और आरामदायक थी। फिर अध्यक्ष महोदय ने गोविन्द गुरु का कुशल क्षेम पूछा। शंकर ने उत्तर

दिया, “पहली वाली अवस्था तो नहीं रही है फिर भी उनका स्वास्थ्य ठीक है।”

तत्पश्चात् अध्यक्ष ने सभा को सम्बोधित किया: “हमारे गुरु परमपूज्य गोविन्दभगवत्पाद का स्मरण करके मैं कुछ शब्द कहूँगा। हमारे पास उपस्थित ये बालगुरु शंकरभगवत्पाद हमारे गुरु के ही शिष्य हैं। इन्होंने तीन वर्ष उनके निकट शास्त्राध्ययन करके उनसे संन्यासदीक्षा प्राप्त की है। गुरुजी की आज्ञा से ये यहाँ आये हैं। मैं जब उनके दर्शन के लिये गया था तब गुरुजी ने मुझे साक्षात् कहा था कि हमें इनके कार्य में सम्पूर्णतया सहयोग देना है। हमारे लिये इससे अधिक भाग्य की बात और क्या हो सकती है। अतः, मैं बालगुरु से प्रार्थना करता हूँ कि हमें बतायें कि क्या करना है।” इतना कहकर अध्यक्ष अपने स्थान पर बैठ गये।

“क्या करना है इसका निश्चय बाद में करेंगे। पहले मैं आप सबका परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ। गुरुजी ने बताया है कि विदेशी लोग सिन्धुदेश पर आक्रमण करके वहाँ की जनता पर अत्याचार न रहे हैं। मैं आपसे इसका विवरण लेना चाहता हूँ।” शंकर ने कहा।

अध्यक्ष ने कहा, “यहाँ उपस्थित ऊर्जस्तम्भ, यज्ञेश्वर दीक्षित एवं देवशर्मा सिन्धुदेश के हैं। सात-आठ दशक पूर्व, शत्रुओं के अत्याचार सहने में असमर्थ इन्हें वहाँ से भागकर शरणार्थी बनना पड़ा। वे ही बताएँगे कि वहाँ उन्होंने क्या देखा।”

ऊर्जस्तम्भ ने बोलना आरंभ किया। “मैं तब दस वर्ष का था। मुहम्मद बिन कासिम नामक एक अरब ने पचास हजार सैनिकों के साथ हमारे देश पर आक्रमण किया।”<sup>1</sup>

उसके समाप्त करने से पहले ही यज्ञेश्वर दीक्षित ने कहना शुरू किया।

“ऊर्जस्तम्भ! तुम आरंभ से बताओगे कि क्या हुआ तभी गुरुजी स्थिति को स्पष्ट रूप से समझ पायेंगे। गुरुजी! सुनिये, कासिम हमारे देश पर आक्रमण करने वाला पहला व्यक्ति नहीं था। उसके आने के पचास साल पहले से ही अरब बार-बार आक्रमण करके हमारा धन लूटते रहे थे।<sup>2</sup> उनको सामान्य चोर समझते हुये हमारे राजाओं ने उन्हें गंभीरता से नहीं लिया। एक

बार उन्होंने सेना के साथ हमारे देश पर आक्रमण किया।<sup>3</sup> उस समय हमने उन्हें हराकर खदेड़ दिया। बाद में उस्मान नामक एक अरब ने देश पर आक्रमण किया। तब राजा चाचा ने उसे पराजित किया और उसके सेनापति को मार डाला।<sup>4</sup> इसके बाद कुछ समय तक शान्ति रही। फिर भी वे दूर-दराज के गाँवों पर आक्रमण करके वहाँ के भयभीत भोले-भाले लोगों को डरा-धमकाकर उन्हें अपने धर्म में परिवर्तित करते रहे। इनके बाद ही कासिम आया।

शंकर ने फिर ऊर्जस्तम्भ से अपना वृत्तान्त जारी रखने के लिये कहा। उसने बोलना आरंभ किया।

“मैं बता रहा था कि कासिम ने पचास हजार सैनिकों के साथ सिन्धुदेश पर आक्रमण किया। उस समय दाहिर नामक राजा था। वह एक ब्राह्मण था। तब बौद्धों की संख्या न्यून थी। जब कासिम देवल बन्दरगाह में उतरा, तब बौद्धों ने उनका स्वागत किया और कहा कि ‘हम बौद्ध हैं वैदिक नहीं हैं। हम आपके शत्रु नहीं हैं। हमें नहीं मारियेगा।’ कासिम ने कहा कि वह ऐसा करने के लिये तैयार है बशर्ते वे उसका साथ दें।<sup>5</sup> बौद्धों ने उसकी बात मान ली और उसकी हर प्रकार से सहायता की। उसको गुप्त मार्ग दिखाये और उसकी सेना को खाद्य सामग्री उपलब्ध करायी। उन्होंने अपने ही लोगों की मुखबिरी की और उनके रहस्य शत्रु पर प्रकट कर दिये। इतने द्रोह के बावजूद दाहिर ने ब्रह्मनगर में कासिम के साथ साक्षात् युद्ध किया।<sup>6</sup> दाहिर ने कुछ मुसलमान सैनिकों को अनुबन्धित (ठेके पर) कर रखा था। जब दाहिर के सामने एक मुसलमान आया तो उन्होंने दाहिर को छोड़ दिया और कासिम से मिलकर दाहिर के विरुद्ध ही युद्ध लड़ा। राजा दाहिर ने महान् पराक्रम का परिचय देते हुये रणभूमि में प्राण त्याग दिये। मुसलमान सैनिकों का नगर में प्रवेश हुआ तब रानी और महल की अन्य स्त्रियों ने अग्नि में प्रवेश किया (जौहर)।<sup>7</sup> परन्तु दाहिर की दो पुत्रियाँ सूर्या देवी और प्रमिला देवी सैनिकों के हाथ पड़ गयीं।<sup>8</sup> बाकी सबको मौत के घाट उतार दिया गया। वे बहुत सी स्त्रियों को उठा कर ले गये और उनको अपने भोग के लिये रख छोड़ा।<sup>10</sup> सिन्धुदेश के बहुत से नगरों को उन्होंने जलाकर भस्म कर दिया।”<sup>11</sup>

यज्ञेश्वर ने उसे टोकते हुये बीच में ही कहा, “राजा दाहिर के अनुबन्धित

सैनिक मुसलमान थे। उनका दाहिर से द्रोह स्वभाविक है क्योंकि वे स्वयं भी विदेशी थे तथा धर्म से अनभिज्ञ थे। उनपर विश्वास करके उन्हें सेना में शामिल करना हमारा ही दोष था। परन्तु बौद्ध, जो कि हमारे अपने लोग ही हैं, क्या उनके द्वारा शत्रुओं का साथ देना उचित था? हमने तो उनके धर्माचरण में कभी कोई विघ्न नहीं डाला।”

शंकर ने कहा, “इसकी चर्चा कुछ देर में करेंगे। पहले मेरी एक शंका का निवारण करो। बौद्धधर्म उस समय व्यापक था, परन्तु इस समय इतना व्यापक नहीं है। इसका क्या कारण है?”

देवशर्मा ने अपनी राय दी, “इसका कारण, जैसा मेरे पुरखों द्वारा बताया गया है यह है कि बौद्ध शुरू से ही देशद्रोही रहे हैं। आज तक किसी ने बौद्धों के देशप्रेम के विषय में नहीं सुना है। एक हजार वर्ष पहले भी उन्होंने हमारे देश पर आक्रमण करने वाले ग्रीकों की सहायता की थी।<sup>12</sup> उनको हमारा देश, हमारी जाति, हमारा राष्ट्र, इस प्रकार का अभिमान कभी नहीं रहा है। वे ‘एक विश्व’ ‘सम्पूर्ण मानवता’ इत्यादि ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों की बात करते हैं और अपने आपको ‘विश्व नागरिक’ कहते हैं परन्तु हमारे समाज से विश्वासघात करते हैं। इस स्थिति का लाभ उठाते हुये ग्रीक मेनाण्डर ने एक झूठा सन्देश फैला दिया कि “वैदिक हिन्दू दुर्बल बौद्ध राजाओं का राज्य हड़पने का षड्यंत्र रच रहे हैं। इसलिये, मेरी लड़ाई उन वैदिक हिन्दुओं से है।” इससे उनको बौद्धों का समर्थन निश्चित हो गया। दुर्बल बौद्ध राजा बृहद्रथ ने तो उनके साथ युद्ध ही नहीं किया। इससे मेनाण्डर अयोध्या तक पूरे देश पर कब्जा करने में सफल हो गया। उस समय बृहद्रथ का सेनापति था पुष्यमित्र नामक ब्राह्मण।<sup>13</sup> उसने बड़ी कुशलता से सेना की कमान संभाली और ग्रीकों को पराजित किया। तत्पश्चात् देशद्रोही बौद्धों द्वारा उसे मरवा दिया गया। उसने सामान्य बौद्धों को अपना धर्माचरण करने की सुविधा प्रदान की। उसने महर्षि पतंजलि के मार्गदर्शन में अश्वमेध यज्ञ भी सम्पन्न किया। धीरे-धीरे वे ग्रीक, जो पराजित होकर पलायन कर गये थे, वापिस आये और आत्मसमर्पण करके उन्होंने शरण माँगी। सबको आश्रय दिया गया। समयान्तर में वे समाज की मुख्यधारा में शामिल हो गये।”<sup>14</sup>

“बौद्धों ने आक्रमणकारी कुशानों की भी सहायता की थी। वे यवन, व्याक्ट्रिय, शक, हूण और अब अरब, सब आक्रमणकारियों की सहायता करते रहे हैं। ऐसा कोई शत्रु नहीं है जिसको उनकी सहायता नहीं प्राप्त हुयी हो। इसके परिणामस्वरूप सामान्यजन और राजा दोनों उनसे खिन्न हो गये और वे समाज की मुख्यधारा से अलग पड़ गये। हूण और मुसलमान आक्रमणकारी, जिन्हें बौद्धों के द्रोह से लाभ मिला था, बाद में उन्होंने ही बौद्धों को गाजर-मूली की तरह काट कर मार डाला। इनमें से बहुत सारे बौद्ध तो तिब्बत देश भाग गये। बहुतों ने संहार के डर से इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया।<sup>15</sup> यही प्रधान कारण है कि बौद्धों की संख्या अब न्यून रह गयी है।”

यज्ञेश्वर ने इस पर एक आपत्ति जतायी, “अगर बौद्धों का खात्मा मार कर या उनका धर्मपरिवर्तन करके किया गया, तो क्या इससे हमारी ही संख्या न्यून नहीं हुयी?”

“ऐसा कैसे?” देवशर्मा बीच में बोला। “बौद्ध हमारे अपने लोग हैं। वे अविवेक से बौद्ध बने हैं। अगर मारने से या धर्मपरिवर्तन से उनकी संख्या घटती है तो इससे मुझे कोई प्रसन्नता नहीं मिलती है। अगर वे अपना अविवेक त्यागकर वैदिकधर्म में वापिस आते हैं तो ही मुझे प्रसन्नता होगी।”

शंकर ने सहमति जतायी, “यह सही है देवशर्मा!। उनकी संख्या घटने के और क्या कारण हैं?”

“उनके क्षय का एक और कारण है अहिंसा के विचार को अव्यवहारिक सीमा तक ले जाना। आज से सात-आठ शताब्दी पहले अशोक से प्रेरित हो राजा हर्ष ने माँस के विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। जो गुप्तरूप से माँस का विक्रय करते थे उन्हें पकड़कर मौत के घाट उतार दिया गया।<sup>16</sup> इसपर लोगों ने विद्रोह किया। उनको शान्त करने के लिये बौद्ध राजाओं ने उनके शाकाहारी भोजन के लिये आर्थिक सहायता देना प्रारंभ किया। ऐसा तीन वर्ष तक किया गया। परन्तु उसके बाद लोग क्या करते? खिन्न हो वे सब वैदिक धर्म में वापिस लौट आये।”<sup>17</sup>

यज्ञेश्वर बीच में बोला, “गुरुजी! अगर माँसाहार हिंसा है तो माँसाहारियों

को मौत के घाट उतारना क्या है? क्या वह अहिंसा है? राजा होते हुये भी इतना मूर्ख होना कलियुग की महिमा की कही जायेगी।”

देवशर्मा ने अपनी बात जारी रखी, “बौद्धों की संख्या घटने का एक और कारण मैं आपको बताता हूँ। राजा की आज्ञा थी कि सब माँसाहारी नगर से बाहर पृथक् निवास करें। यदि उनको नगर के भीतर आना होता तो घण्टी बजाते हुये या ढोल पीटते हुये प्रवेश करना होता था।<sup>18</sup> इस अस्पृश्यता के अपमान को न सहते हुये वे सब वैदिक धर्म में वापिस आ गये। इससे भी उनकी संख्या घट गयी।”

शंकर ने पूछा, “क्या इस विषय में और कुछ कहना शेष है?”

“गुरुजी! अगर हम अपने पूर्वजों पर आये कष्टों को सुनाते रहे तो उसका कोई अन्त नहीं है। उसका सार हम कह चुके हैं।”

शंकर ने तब कहा, “ऊर्जस्तम्भ, यज्ञेश्वर दीक्षित और देवशर्मा ने बहुत महत्वपूर्ण तथ्यों से हमें अवगत कराया है। ये सब बहुत गंभीर विषय हैं। अब शाम हो गयी है। आप सब अपने सन्ध्यावन्दन के लिये जाइये। अध्यक्ष महोदय! क्या हम कल शाम चार बजे फिर मिल सकते हैं?”

“अवश्य”, अध्यक्ष ने कहा और सभा समाप्त हुयी।

× × ×

अगले दिन यज्ञेश्वर दीक्षित शंकर को अपने घर भिक्षा के लिये ले गये। भिक्षा के पश्चात् सबने उन्हें नमस्कार किया। सबसे अन्त में यज्ञेश्वर ने अपने दो वर्षीय पौत्र को बुलाया और उससे गुरुजी को प्रणाम कराकर कहा, “यह बहुत शैतान है। जब यह जागता है तब कोई नहीं सो सकता। वैसे तो यह बहुत चपल है परन्तु आज चुपचाप बैठकर आपको देख रहा है।”

“इसका नाम क्या है?”, शंकर जी ने पूछा।

“देवल”, दीक्षित जी ने उत्तर दिया और अपनी बात जारी रखी, “हमारा और हमारे पूर्वजों का जीवन व्यर्थ ही बीत गया। थोड़ा बहुत वेद पढ़कर हम पौरोहित्य वृत्ति से अपना जीवन चलाते हैं। मुसलमानों के अत्याचार के कारण हमने एक नगर से दूसरे नगर तक भागते हुये अपना

जीवन बिताया है। हम समाज को कोई योगदान नहीं दे सके। देवल ऐसा न रहे। कृपया उसे आशीर्वाद दें कि वह एक उत्तम विद्वान् बने और उसके द्वारा लोक का कल्याण हो।”

शंकर जी ने देवल के सिर पर हाथ रखकर “देवल! तुम्हारे पितामह कहते हैं कि जब तुम जागते हो तो कोई नहीं सो सकता। बड़े होकर जो सोये हुये हैं उन सबको जगा देना। निरोगी और दीर्घायु रहो” यह आशीर्वाद दिया।

अगले दिन सभा में शंकर ने उपस्थित जनों को सम्बोधित किया—

“कल जो चर्चा की गयी उसका सार यह है: शत्रुओं ने हमारे देश पर आक्रमण किया। अपनी मातृभूमि की रक्षा करते हुये हमारे लोगों को पराजय का सामना करना पड़ा। तदनन्तर शत्रुओं द्वारा हमारे लोगों का जनसंहार किया गया। जो बच गये उन्हें शत्रुओं का धर्म स्वीकार करना पड़ा। इस विपत्ति का मूल कारण क्या है? बौद्ध, जो कि अपने ही लोग थे, उन्होंने समाज के साथ द्रोह किया। उन्होंने ऐसा क्यों किया? क्योंकि वे सनातन धर्म के प्रति द्वेष रखते थे। परन्तु सनातनधर्मियों ने तो कभी उनके स्वधर्माचरण में बाधा नहीं डाली। तो फिर वे सनातन धर्म से क्यों द्वेष करते थे? इसके विषय में हमें विचार करना पड़ेगा। सनातन धर्म में ही सांख्य, योगी, वैशेषिक, तार्किक, भागवत इत्यादि विभिन्न विचारधाराएँ हैं। तथापि, उनका आपस में द्वेष नहीं है क्योंकि उन्होंने वेदों की परिधि को नहीं त्यागा है। परन्तु बौद्धों ने वेदों को त्याग दिया है। वे वर्णाश्रमधर्म एवं यज्ञों को स्वीकार नहीं करते। अगर वे केवल अस्वीकार करते तो कोई चिन्ता नहीं थी परन्तु वे उससे घृणा करते हैं। इस विसंगत घृणा के पीछे क्या कारण है? क्या आप में से कोई इसका कारण बता सकते हैं?” क्षणभर के लिये चुप्पी छा गयी। कोई कारण को नहीं जानता था। शंकर जी ने फिर स्वयं कहा:

“मैं केवल वही दोहराऊँगा जो हमारे गुरु परमपूज्य गोविन्दभगवत्पाद जी ने कहा है। बौद्ध धर्म एक व्यक्तिनिष्ठ धर्म है। वह सनातनधर्म की तरह अपौरुषेय नहीं है। कोई भी व्यक्ति कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो, उसकी बुद्धि एक सीमा तक ही काम कर सकती है। उसमें समग्रदृष्टि का सामर्थ्य नहीं होता। अतः उसके सिद्धान्त में परिपूर्णता नहीं होती। जब उसे स्वयं ही



यह नहीं पता होता, तो उसके अनुयायी कैसे जान सकते हैं? परन्तु यह मिथ्या मोह कि जो अपने गुरु द्वारा कहा गया है वही श्रेष्ठ है और दूसरों द्वारा जो कहा गया है वह उसके विरुद्ध है ऐसी क्रोधपूर्ण असम्मति रखने से दूसरे विचार रखने वालों के प्रति घृणा उत्पन्न होती है जो विश्वासघात, हिंसा, क्रूरता आदि अनेक दोषतापूर्ण आचरणों को जन्म देती है। व्यक्तिनिष्ठ सभी मतों के साथ ऐसा ही है। इन सिद्धान्तों में दोष रहते ही हैं अतः कालक्रम से उनका नाश निश्चित है। परन्तु जब तक वे जीवित रहते हैं, तब तक उनके अनुयायी समाज में क्षोभ उत्पन्न करते रहते हैं और अपना द्वेषयुक्त जीवन जीते हुये पाप एकत्रित करते रहते हैं।”

इन शब्दों के साथ शंकर ने अपना वक्तव्य समाप्त किया। बहुत समय तक सभा में मौन छाया रहा। कुछ समय बाद यज्ञेश्वर जी बोले:

“गुरुजी! कृप्या बताइये कि ऐसी परिस्थितियों में हमें क्या करना चाहिये।”

“तुम्हारे प्रश्न में ‘हम’ में न केवल ब्राह्मण बल्कि क्षत्रिय भी सम्मिलित हैं। पहले देखो कि ब्राह्मण का कर्तव्य क्या है। सनातनधर्म को दृढ़ करना दोनों का सर्वकाल में कर्तव्य है। यह केवल अध्यापन (प्रवचन) से साध्य है। परन्तु प्रवचन के लिये अध्ययन आवश्यक है। अध्ययन-प्रवचन ही लोकशांति का आधार है। अतः स्वाध्याय और प्रवचन ही ब्राह्मण के तप कहे गये हैं। यह प्रवचन सब वर्णों के व्यक्तियों के लिये देने चाहिये। परन्तु अलग-अलग लोगों द्वारा आचरणीय धर्म भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः इन प्रवचनों का कार्यक्षेत्र अत्यन्त गंभीर और विस्तृत होता है। धर्म की गंभीरता श्रुति में है। उसका विस्तार स्मृति में है। श्रुति स्थिर है, स्मृति चलनशील है। ऐसा इसलिए है क्योंकि स्मृति काल के अनुसार आचरण का नियम करती है। स्मृति के नियम हर किसी के द्वारा नियमित नहीं किये जा सकते। केवल जिन्होंने श्रुति का गहन अध्ययन किया है, जो प्राज्ञवान हैं, शान्त हैं, संयमित हैं और धर्मकाम हैं, वे ही ऐसा कर सकते हैं।”

“अब राजधर्म में जो ध्यान देने योग्य बात है उसकी ओर देखो। एक दृष्टि से देखा जाये तो ब्राह्मण का धर्म सरल है और राजधर्म जटिल। सनातनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को बिना छोड़े, किसी विशेष काल में अगर

राजा सनातन धर्म की रक्षा के लिये कुटिल नीति का प्रयोग करता है तो वह अधर्म नहीं होता। महाभारत के युद्ध में आदि से अन्त तक भगवान् कृष्ण ने राजाओं को यही सिखाया है। परन्तु उन्होंने अभी तक यह नहीं सीखा है। बहुत बार हमारे राजा शत्रुओं के साथ ब्राह्मणों के समान सरलता से व्यवहार करते हैं। यह अविवेक उनके लिये और धर्म के लिये विपत्तिकारी है। राजा को अविवेकी नहीं होना चाहिये। ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह राजा को समयानुसार इस सब का बोध कराते हुये उसका मार्गदर्शन करता रहे। इस विषय में आप सबको सावधान रहना चाहिये। जैसी-जैसी परिस्थिति आये वैसे-वैसे क्या करना है इसका निश्चय करना चाहिये। हमारे प्रयासों को गुरुजी का मार्गदर्शन तथा अनुग्रह प्राप्त हैं। इसलिये हमें क्या चिन्ता है?

• • •

- 
1. Lane people: Medieval India.p. 7-8
  2. Tuhfatu kiram & al-Baladhuri / Trans. By F.C. Murgotten – p. 432
  3. Armed Aggression : Lane poole : Medieval India - p. 5
  4. Majumdar : Arab Invasion of India – p. 29
  5. Tod : Annals of Rajaputana I p. 75
  6. Majumdar : Arab Invasion of India – p. 26, 34
  7. Chachnama : Elliot, History of India I. p. 161
  8. Chachnama : History of India I. p. 170
  9. Chachnama : History of India I. p. 171
  10. Briggs : Firishta IV p. 410-411; Muir : Chaliphate p.362-363
  11. K.M.Munshi:Imperial Gurjaras in Glory that was GujarathDesh III p. 50
  12. W.W. Tam : Greeks in Bactria & India – p. 175; Nehru : Discovery of India – p. 43; Smith : Early History of India.
  13. W.W. Tam : Greeks in Bactria & India (1938); Sir John Marshall : Taxila (1951) p. 33
  14. Smith : Early History of India (1924) p. 213-214; Nehru : Discovery of India (1956) p. 140
  15. Nehru : Discovery of India – p. 184
  16. Smith : Early History of India - p. 194-195
  17. Nehru : Discovery of India – p. 184
  18. Majumdar, Roy Chaudhary, Kalikumara Dutta : Advanced History of India – p. 186

## अध्याय चार

# सोमनाथ से काशी

दो-तीन दिन के बाद शंकर ने सोमनाथ से प्रस्थान करने का निश्चय किया। “फिर आऊँगा” ऐसा कहकर अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये वे द्वारका की ओर चल पड़े। दर्शन के बाद वह मन्दिर में ही रुके रहे और वहाँ के मुख्य लोगों का परिचय प्राप्त किया। उनमें भी बहुत से गोविन्दभगवत्पाद के शिष्य थे। तीन-चार दिन तक उन्होंने उनके साथ बहुत से विषयों पर विचार-विमर्श किया। परन्तु उनमें कोई भी शास्त्राध्ययन किया हुआ विद्वान् नहीं था। तब शंकर समझ गये कि क्यों गुरुजी ने उन्हें सोमनाथ से सीधा काशी जाने के लिये कहा था। इसलिये अब उनकी आँखें काशी पर लग गयीं। अधिकतर मार्ग उन्होंने पैदल ही तय किया। कभी-कभी, अवसर प्राप्त होने पर, वे घोड़ागाड़ी अथवा बैलगाड़ी की सहायता भी ले लेते थे। उद्देश्य था जल्दी-से-जल्दी काशी पहुँचना। प्रायः एक महीने में यह संकल्प पूरा हुआ।

काशी पहुँचते ही शंकर ने गंगा जी में स्नान किया। उसके बाद काशी विश्वनाथ के दर्शन किये। दण्डकमण्डलुधारी इस तेजस्वी बाल-संन्यासी को देखकर लोगों ने माँगने से पहले ही उन्हें भिक्षा समर्पित की। तीर्थयात्रियों के परामर्श पर उन्होंने पास ही एक धर्मशाला में रहने का निश्चय किया। उन्हें अपने चारों ओर पाठशालाएँ दिखायी दीं। निकट ही एक बृहद् पुस्तकालय भी था। शीघ्र ही उन्होंने अविरत अध्ययन तथा विद्वानों से चर्चा प्रारंभ कर दी। कुछ ही समय में उनकी प्रसिद्धि एक असाधारण प्रतिभा के रूप में चारों ओर फैल गयी। अब वे केवल पुस्तकालय जाने के लिये ही अपने निवासस्थान से निकलते थे। बाकी समय काशी के महान् विद्वानों और साधकजनों का उनके दर्शनार्थ धर्मशाला में ताँता लगा रहता था। साधारणतया अतिगंभीर चर्चा चलती जिसमें किसी को समय की सुध न रहती। दोपहर में कोई एक जन शंकर जी को भिक्षा के लिये अपने घर ले जाता। सरलता, गहन

पाण्डित्य, विनय, और सबको अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अपने विचारों का बोध कराने का अद्भुत सामर्थ्य, इन सब गुणों ने शीघ्र ही उन्हें गुरु की आदरणीय पदवी पर स्थापित कर दिया। एक दिन दोपहर को जिज्ञासु जन शंकर को घेर कर बैठे थे और अपनी शंकाओं का परिहार करा रहे थे। दूर एक कोढ़ी अलग बैठा था। उसने एक प्रश्न किया:

“गुरुजी! मैंने कई महात्माओं के प्रवचनों में सुना है कि अन्तरात्मा ज्योतिस्वरूप है। इसका क्या अर्थ है?”

“बताता हूँ, सुनो! सबमें जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। जाग्रत् अवस्था में मन और ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों का ज्ञान होता है। यह ज्ञान ही प्रज्ञा है। अतः जाग्रदवस्था में विद्यमान जीव का नाम बहिष्प्रज्ञ है। अब बताओ, दिन में बहिष्प्रज्ञ कौन से प्रकाश में वस्तुओं को देखता है?”

“सूर्य के प्रकाश में।”

“और सूर्यास्त के बाद?”

“चन्द्र के प्रकाश में।”

“अगर चन्द्र का प्रकाश भी न हो तो?”

“फिर कुछ भी नहीं दिखायी देगा।”

“आगे सुनो। जाग्रत् के व्यवहार से थका जीव सो जाता है। तब वह स्वप्न देखता है। जाग्रदवस्था के समान ही रथ, घोड़े और मार्ग देखता है। वे क्या हैं?”

“वे जाग्रदवस्था में देखे हुये रथादि की स्मृतियाँ हैं।”

“उन स्मृतियों का द्रष्टा अन्तःप्रज्ञ है। उनको देखने के लिये अन्तःप्रज्ञ के पास सूर्यादि का प्रकाश है क्या?”

“नहीं है।”

“तो फिर कैसे देखता है?”

“स्मृति में विद्यमान प्रकाशित वस्तुओं को ही देखता है, इसलिये अन्य प्रकाश की क्या आवश्यकता है?”

“ऐसा नहीं है। जाग्रदवस्था में दीप को देखने के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती। परन्तु दीप का चित्र अन्धकार में नहीं दिखायी देता; देखने के लिये अन्य प्रकाश चाहिये। स्वप्नदीप जाग्रद्दीप का स्मृतिचित्र है। उसको देखने के लिये प्रकाश तो चाहिये न?”

“हाँ। अब मैं समझ गया। परन्तु वह प्रकाश कौनसा है यह मैं नहीं बता सकता।”

“वह प्रकाश बाहर का नहीं हो सकता, वह अन्तस्थ ही होना चाहिये। वह स्वप्न को देखने वाले आत्मा का है। अतः आत्मा ज्योतिस्वरूप है।”

“तो मैं उसको क्यों नहीं देख पाता?”

“तुम उसको इसलिये नहीं देख पाते क्योंकि तुम स्वप्नचित्र के दर्शन में मग्न होते हो।”

“स्वप्न को देखने वाले की आत्मा सुषुप्ति का ‘मैं’ ही हूँ न?”

“नहीं।”

“फिर वह आत्मा कौन है?”

“वह सुषुप्तात्मा की भी आत्मा है।”

“तब तो सुषुप्ति में वह आत्मज्योति दिखायी पड़ती। परन्तु ऐसा नहीं होता, क्यों?”

“वह तुम्हारे पीछे होती है इसलिये नहीं दिखायी देती।”

“सुषुप्ति में तो आगा-पीछा कुछ नहीं होता?”

“तो बताइये कि सुषुप्तात्मा आप कौन हैं?”

“मैं नहीं जानता।”

“आप अपने-आप को नहीं जानते। वह आत्मा इस अज्ञान के पीछे है।”

“तो फिर मैं कौन हूँ?”

“वह आत्मा ही हो। जब तक यह नहीं जानते तब तक सुषुप्तात्मा हो।”

× × ×

एक दिन एक विद्यार्थी ने पूछा, “कुछ बौद्ध कहते हैं कि जगत् शून्य

है। कुछ कहते हैं कि जगत् स्वप्न की तरह काल्पनिक है। कुछ मीमांसक कहते हैं कि वह सृष्टि-लयरहित नित्य है। कुछ लोग जो सृष्टि-लय को स्वीकार करते हैं कहते हैं कि ईश्वर इसका निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान। कुछ मानते हैं कि जगत् बिना किसी निमित्त के अपने-आप प्रकृति से उत्पन्न हुआ है। मैं बड़े उत्साह के साथ इस श्रेष्ठ विद्याकेन्द्र काशी में इस विश्वास के साथ विद्याग्रहण करने के लिये आया था कि मैं बहुत कुछ सीख पाऊँगा। परन्तु यहाँ भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये जा रहे हैं जो कि परस्पर विरोधी भी हैं। ऐसे में हमारे जैसे विद्यार्थी भ्रमित हो जाते हैं। मेरी प्रार्थना है कि मुझे कृपया इस प्रकार समझाइये जिस प्रकार कोई संशय न रहे।”

शंकर ने स्पष्ट किया:

“जगत् के सुख और दुःख सबके अनुभव में हैं, इसलिये, यह सिद्धान्त कि जगत् शून्य है, चर्चा के योग्य नहीं है। अतः उसको तो तुम छोड़ ही दो। जगत् स्वप्न की तरह काल्पनिक भी नहीं है क्योंकि स्वप्न में जिस मित्र को हम बीमार देखते हैं उसी से हम जब जाग्रदवस्था में मिलते हैं तो उसे स्वस्थ पाते हैं। अतः, स्वप्न में देखे हुये मित्र का और जाग्रत में देखे गये मित्र में भेद स्पष्ट है। अतः जाग्रत में देखा गया जगत् स्वप्न के समान नहीं है।”

“उसके बाद तुमने कुछ मीमांसकों के सिद्धान्त का उल्लेख किया है। वे वेदों में विश्वास रखते हैं। जब संहिता में ही ‘सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः’, अर्थात् ईश्वर ने पिछले कल्प के समान ही द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की सृष्टि की, ऐसा कहा है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि जगत् नित्य है?”

“और जो कहते हैं कि सर्वज्ञ ईश्वर केवल निमित्त है और उससे भिन्न अनन्त प्रकृति उपादान है तो यह उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित ईश्वरसर्वज्ञत्व के विरुद्ध है। कैसे? देखो! चूंकि प्रकृति अनन्त है उसको मापा नहीं जा सकता। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर भी उसको नहीं माप सकता। परन्तु यह ईश्वर के सर्वज्ञत्व के विरुद्ध होगा अगर ईश्वर उसे माप सकता है तो वह अनन्त नहीं हो सकती। इसलिये, यह सिद्धान्त भी नहीं टिक सकता।”

“फिर तुमने उस सिद्धान्त की बात की जो कहता है कि यह जगत् बिना किसी निमित्त के अपने आप जड़ प्रकृति से उत्पन्न हुआ है। इसमें व्याघात दोष है क्योंकि जो स्वयं कोई भी व्यवहार नहीं कर सकता उसी को जड़ कहते हैं। यह वे लोग भी जानते हैं। अतः, जड़ प्रकृति बिना किसी निमित्त के स्वयं प्रवृत्त होते हुये जगदाकार लेती है यह स्वविरुद्ध है। इस प्रकार ये सारे सिद्धान्त दोषपूर्ण हैं। इन त्रुटियों का मूल कारण यह है कि ये सारे सिद्धान्त अनुमान पर आधारित हैं। परन्तु तर्क से सम्पूर्णतया कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता। एक अंश में कोई कल्पना वैध होने पर भी दूसरे अंश में वह अवैध सिद्ध होती है। ऐसे विषयों का निश्चय करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता होती है। यही श्रुति है। सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति ‘मैं बहुत प्रकार से जन्म लूँ ऐसी इच्छा की’ इस वाक्य के द्वारा श्रुति स्थापित करती है कि केवल परमात्मा एक ही जगत् का उपादान और निमित्त दोनों है। इस पर विश्वास कराने के लिये मकड़ी और उसके जाले का दृष्टान्त भी श्रुति देती है। यही है सही सिद्धान्त।”

कोई सज्जन प्रतिदिन एकाग्रता और मौन के साथ इन सम्भाषणों को सुनते थे। एक दिन उन्होंने शंकर से एकान्त में कहा:

“मेरा नाम पृथ्वीधर है। क्या मैं एक प्रश्न पूछ सकता हूँ?”

“अवश्य पूछो।”

“घटादि कार्य के लिये कुम्हार निमित्त है और मिट्टी उपादान है। आकार की सृष्टि करने का व्यवहार कुम्हार का है। किन्तु मिट्टी यद्यपि घटादि आकारों को प्राप्त करती है तो भी वह सदा मिट्टी रूप से ही रहती है। इससे स्पष्ट पता पड़ता है कि मिट्टी व्यवहाररहित है। फिर दार्ष्टान्त में यदि ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है तो यह विरोध उत्पन्न होता है निमित्त होने से ब्रह्म में व्यवहार है; परन्तु उपादान होने के कारण वह व्यवहाररहित होना चाहिये। इसका परिहार कैसे होगा?”

अभी तक खड़े पृथ्वीधर को शंकर ने बैठने के लिये कहा। फिर उन्होंने कहा:

“इसका परिहार ऐसे होता है। श्रुति में कथित ब्रह्म का निमित्तत्व गौण

अर्थ में है, न कि मुख्य अर्थ में। मुख्य अर्थ में तो जगत् का निमित्त कारण है प्रथम जीव हिरण्यगर्भ, न कि ईश्वर; क्योंकि ईश्वर प्रवृत्तिरहित है। 'अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'—इस जीवात्मा के रूप से प्रवेश करके नामरूपों का विभाजन करता हूँ' ऐसा कहकर ईश्वर हिरण्यगर्भ में प्रवेश करता है। इस जीव में सृष्ट्यादि व्यवहार के लिये आवश्यक प्रवृत्ति तो होती है, परन्तु सामर्थ्य नहीं होता। इसमें जो सामर्थ्य दिख पड़ता है वह है ब्रह्मशक्ति प्रकृति का। अतः, गृहनिर्माण का कार्य साक्षात् मजदूर के द्वार होने पर भी गृहस्वामी ही है जो मजदूर को उसके लिये सामर्थ्य देता है और इसीलिये गृहस्वामी को ही गृहनिर्माता कहा जाता है। इसी प्रकार, श्रुति ब्रह्म पर निमित्तकारणत्व का अध्यारोप करती है। इसलिये ब्रह्म के निमित्तत्व को गौण अर्थ में ही लेना है। किन्तु ब्रह्म का उपादानत्व तो मुख्यार्थ में ही है; उससे ब्रह्म का अव्यवहार्य रूप बाधित नहीं होता।”

इस स्पष्टीकरण से पृथ्वीधर अत्यन्त तृप्त हुये। उन्होंने शंकर जी से कहा, “क्या मैं बीच-बीच में आपके दर्शन के लिये आ सकता हूँ? इससे आपको असुविधा तो नहीं होगी?”

“बिल्कुल भी नहीं। आप जब चाहे यहाँ आ सकते हैं।”

शंकर हमेशा लोगों से घिरे रहते थे। दोपहर का समय बिना पूर्वनिर्धारण के प्रश्नोत्तर काल में परिवर्तित हो गया। उस समय विद्यार्थी और साधु-सन्त अवश्य उपस्थित रहते थे। एक दिन चर्चा करते-करते शाम हो गयी। शंकर, “स्नान करने जाना है”, यह कहकर उठ गये। “हम भी चलेंगे” ऐसा कहकर बहुत से शिष्य भी उनके साथ हो लिये। ग्रीष्म ऋतु होने के कारण स्नान-घाट पर अत्यधिक भीड़ थी। शंकर के स्नान के लिये उतरने पर जो लोग नदी प्रवाह में उनसे ऊपर थे वे नीचे की ओर चले गये। शंकर ने स्नान करके भस्म धारण की और दण्ड तथा गंगाजल से भरा कमण्डलु हाथ में लेकर वापिस चलने लगे। भक्तजन आगे-आगे दोनों तरफ लोगों को हटाते हुये शंकर के लिये रास्ता बना रहे थे। तभी उन्होंने देखा कि बीच मार्ग में एक चण्डाल चार कुत्तों के साथ उनकी ओर मुख करके बैठा है। एक शिष्य ने ऊँची आवाज में कहा, “रे! उठ। इतना भी नहीं जानता क्या? दूर जा। रास्ता छोड़।”



वह धीरे-धीरे उठा और एक बार शंकर को और एक बार शिष्य की ओर देखकर बाला, “तुम किसे दूर जाने के लिये कह रहे हो, शरीर को या आत्मा को?”

शिष्य आँखें फाड़कर उसको देखने लगा, उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह क्या कहे। चण्डाल ने ही दुबारा बोलना शुरु किया, “यदि शरीर को कह रहे हो तो उसको उठकर जाने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि सभी शरीर मिट्टी से उत्पन्न होकर सप्त-धातुओं से युक्त होते हैं। यदि आत्मा को कह रहे हो तो प्रत्यगात्मा का तो शरीर से सम्बन्ध ही नहीं है, यह गहरी नींद में सबका अनुभव है। फिर किसको उठकर जाने के लिये कह रहे हो बताओ?”

न केवल वह भक्त, बल्कि जितने लोग वहाँ उपस्थित थे सब अवाक् रह गये। चारों ओर चुप्पी छ गयी। अन्त में शंकर जी बोले, “भाई! आप तत्त्व को अच्छी तरह समझते हो। जो तत्त्व शास्त्राध्ययन किये लोगों को भी दुष्प्राप्य है उसे आप हृदयंगम कर चुके हो। आप महात्मा ही हो। आप मेरे गुरु के समान हो।”

यह सुनकर वह चण्डाल मन्द-मन्द मुसकराते हुये अपने कुत्तों के साथ विश्वनाथ मन्दिर की दिशा में चल पड़ा। शंकर के शब्दों पर कुछ लोगों ने प्रसन्नता अनुभव की, कुछ को आश्चर्य हुआ और कुछ को उनका अर्थ ही समझ में नहीं आया।

अगले दिन दोपहर को प्रतिदिन की तरह सभा लगी। सब चुप थे। किसी ने कोई प्रश्न नहीं पूछा। न कोई कुछ बोला। शंकर जी ने ही बोलना प्रारंभ किया।

“जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है मैं आत्मा हूँ यह ज्ञानस्थिति, अर्थात् मोक्ष। यह आत्म अत्यन्त परिशुद्ध है। इसका देहेन्द्रियादि से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा होने पर भी इसको मन से ही जानना है। यह तभी संभव है जब मन आत्मा के समान परिशुद्ध हो जाये। मन की शुद्धि कैसे होगी? विहित कर्मों का निष्काम आचरण करने से मन शुद्ध होता है। और कर्म करते समय शरीर की शुद्धि आवश्यक है। इसके लिये सम्प्रदाय में अनेक नियम दिये

गये हैं। पाँच-छह साल के बचपन के बाद बच्चे और माता-पिता परस्पर एक दूसरे को नहीं छूते हैं। रजस्वला स्त्री तो किसी से भी सम्पर्क न रहे इस प्रकार अपने को दूर रखती है। जब रोगी को छूकर उसकी सेवा करने का अनिवार्य प्रसंग उत्पन्न होता है तो सेवा के बाद नहाकर ही किसी दूसरे कार्य में प्रवृत्त होते हैं। जन्म और मृत्यु के निमित्त होने वाले अशौच में भी ऐसा ही है, इसमें भी कोई किसी का स्पर्श नहीं करता। ये सब व्यवहार बुद्धि की शुद्धि के लिये आवश्यक हैं।”

“यह सब सुनने के बाद अब कल शाम को नदी के पास हुये प्रसंग को याद करो। ऐसा कोई नहीं कहेगा कि नदी में स्नान करके जो पूजा के लिये जा रहे हैं उनका दूसरों को न छूना गलत है। परन्तु नदी तो सार्वजनिक स्थल है। यहाँ सब स्वतन्त्रता से आ-जा सकते हैं। अगर कोई जो अशुद्ध है तुम्हारे मार्ग में आता है तो उससे बचकर निकलना ही उत्तम है। अगर ऐसा संभव न हो तो “कृपया जगह दीजिये” ऐसा कहकर उनसे निकलने के लिये मार्ग माँगने में कोई दोष नहीं है। परन्तु अगर कोई यह समझता है कि मार्ग उसके लिये ही आरक्षित है और जो अशुद्ध है उन्हें नीच समझकर “दूर जाओ” ऐसा चिल्लाता है तो वह सही नहीं है। स्मृति भी नदी, तालाब, कुएँ, मार्ग इत्यादि सार्वजनिक स्थलों पर सबका समान अधिकार बताती है। मन्दिरों के गर्भगृह में अर्चक के सिवाय किसी को भी जाने की अनुमति नहीं है तो भी भगवान् के दर्शन करने का सबको अधिकार है। कौन नीच है? कौन ऊँचा है? सभी में एक ही परमात्मा है, इसीलिये वेद कहते हैं ‘नमः पुञ्जिष्टेभ्यः नमोनिषादेभ्यः पक्षी पकड़ने वाले को नमस्कार है, शिकारी को नमस्कार है; ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः मछुआरे ब्रह्म हैं, पत्थर ढोनेवाले ब्रह्म हैं, जुआ खेलनेवाले ब्रह्म हैं।’ इसीलिये ज्ञानी ‘शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिनः-कुत्ते और चाण्डालादि में पण्डित समदर्शी होते हैं।’ अतः हृदय में किसी के भी बारे में नीचभावना नहीं रखनी चाहिये। किसी को भी उपेक्षा से नहीं देखना चाहिये। एक शिशु को भी उपेक्षा से नहीं देखना चाहिये।”

इतना कहकर शंकर बिना और कुछ कहे उठकर अपने कक्ष में चले गये। कुछ देर बाद, मन्द-मन्द कदमों से चलते हुये पृथ्वीधर ने गुरुजी के कक्ष में प्रवेश किया और साष्टांग प्रणाम करके खड़ा हो गया। तब शंकर ने

उसको मनीषा पंचक नामक स्तोत्र दिया जो उन्होंने उसी दिन सुबह लिखा था। पृथ्वीधर ने उसे धीरे-धीरे पढ़ा और “आपका अनुग्रह सदा मुझपर बना रहे” ऐसा कहकर अपनी आँखों में उमड़े आनन्द के आँसू पोंछ डाले।

एक दिन दोपहर को प्रश्नोत्तरसभा समाप्त ही हुयी थी कि एक युवक शंकर के पास आया। वह लगभग पच्चीस वर्ष का था। श्यामवर्ण था, थोड़ी-थोड़ी दाढ़ी थी। शान्त नेत्र थे और उसने घुटने से थोड़े नीचे तक धोती और ऊपर उत्तरीय डाल रखा था। प्रतिदिन वह प्रश्नोत्तर शुरू होने से पहले ही एक कोने में आकर बैठकर सुना करता था। बाद में गुरुजी को नमस्कार करके चला जाता था। उस दिन नमस्कार करने के बाद उसने मौन छोड़कर कहा, “मैं व्यक्तिगत रूप से आप से बात करना चाहता हूँ। कब आऊँ?”

“आपको जब समय हो तब आ सकते हैं। भिक्षा और स्नान के समय को छोड़कर मैं हमेशा यहीं रहता हूँ।”

“अभी कर सकते हैं क्या?”

“हाँ कर सकते हैं।”

कक्ष में प्रवेश करने के बाद उसने कहा, “गुरुजी, मेरा नाम विष्णुशर्मा है। मैंने अभी तक किसी को यह नहीं बताया है। किसी ने मुझे यहाँ पर ‘सनन्दन’ नाम से सम्बोधित किया तभी से सब मुझे इसी नाम से बुलाते हैं। मैं चोलदेश का ब्राह्मण हूँ। बचपन में ही पिता चल बसे। मेरे कोई भाई-बहन नहीं हैं। कुछ दिन पहले माताजी भी चल बसी। मुझे संसार में कोई आसक्ति नहीं है। मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे अपना शिष्य स्वीकार करें।”

“क्या आपने कुछ अध्ययन किया है?”

“अपनी शाखा के वेद का अध्ययन किया है।”

“आपकी शाखा कौन सी है?”

“साम-शाखा।”

“और क्या अध्ययन किया है?”

“प्रायः दो वर्षों से काशी में हूँ। कुछ काव्य और थोड़ा सा व्याकरण पढ़ा है। परन्तु उनमें मेरी रुचि नहीं है। मेरी अभिलाषा वेदान्त सीखने की है। परन्तु यहाँ उसका अध्ययन करने का अवसर ही नहीं प्राप्त हो रहा है।”

“मैं प्रतिदिन दोपहर में आपको देखता हूँ। यहाँ जो चर्चाएँ होती हैं क्या आप उनको समझ पा रहे हैं?”

“हाँ। समझ पा रहा हूँ, इसीलिये आपकी शरण में आया हूँ।”

“मैं कुछ दिनों बाद यहाँ से बदरीनाथ जाऊँगा। सुना है वहाँ बहुत ठण्ड है। आप चोलदेश से हैं, क्या वहाँ रह सकते हैं?”

“मैं उस सबके लिये तैयार होकर ही आया हूँ।”

“तब तो आइये।”

दो-एक दिन में शंकर जी बदरीनाथ के लिये निकलने वाले हैं, यह सुनकर पृथ्वीधर भी उनसे आज्ञा लेकर उनके साथ चलने की तैयारी करने लगे।

× × ×

शंकर बदरीनाथ जाने की तैयारी कर रहे हैं यह सुनते ही काशी के सभी साधु-सन्त और विद्वान् अपने-अपने काम छोड़कर धर्मशाला आ गये। “क्या बात है? आप इतनी जल्दी यहाँ से क्यों जा रहे हैं? क्या हमसे कोई अपराध हो गया है? हम सब तो सोच रहे थे कि अब आप यहीं रहेंगे?”

“ऐसी बात नहीं है। जिस कार्य के लिये मैं यहाँ आया था वह फिलहाल पूरा हो चुका है। मैं फिर आऊँगा। आप सबने आवश्यकता से अधिक मेरा सत्कार किया और सुविधाओं का ख्याल रखा। मैं आपका आभारी हूँ। कृपया मुझे जाने दीजिये।”

“फिर कब आएँगे?”

“दो-तीन साल लग सकते हैं।” साथ जाने के लिये तैयार खड़े पृथ्वीधर को देखकर एक विद्वान् ने पूछा “आचार्य! क्या आप भी जा रहे हैं?”

“हाँ।”

“और विद्यालय में आपका काम?”

“वह मैंने छोड़ दिया है।”

“आप तो ब्रह्मचारी हैं। आपके ऊपर कोई जिम्मेवारी नहीं है। आप कुछ भी कर सकते हैं। आप कितने भाग्यशाली हैं।”

• • •

## अध्याय पाँच काशी से बदरीनाथ

बदरीनाथ की यात्रा आरंभ हुयी। हरिद्वार और ऋषिकेश पार करने के बाद यात्रा पैदलपथ का अनुगमन करने लगी। पृथ्वीधर ने सनन्दन से कहा,

“मैं इस पर्वतप्रदेश से परिचित हूँ; इसलिये मैं आगे रहूँगा, गुरुजी बीच में रहेंगे और आप गुरुजी के पीछे रहना।” वे इसी क्रम में चलने लगे। हिमालय पर्वत दृष्टिगोचर हुये। ये भगवान् शिव का निवासस्थान है- ज्ञानियों और मुमुक्षुओं का परमधाम। पैदल चलते समय यहाँ एक ओर ऊँची-ऊँची चोटियाँ हैं और दूसरी ओर गहरी खाइयाँ। मुख्य घाटियों में लोकपावनी गंगा और यमुना बहती है। छोटी घाटियों में इनसे मिलने को उत्सुक छोटी-छोटी नदियाँ बहती हैं। असंख्य झरने भी हैं। कहीं जल के गिरने का स्वर और कहीं योगियों को समाधि की ओर ले जाने वाला मौन। गगनचुम्बी वृक्ष, छोटे पेड़-पौधे, लताएँ और झाड़ियाँ। बड़े-बड़े मधुमक्खियों के छत्तों से आती मक्खियों की झन्कार। तरह-तरह के पक्षी, सर्प और हिंसक पशु। वहाँ के छोटे-छोटे गाँव और शहरवासियों की वंचना, आडम्बर और ढकोसलों से रहित वहाँ के लोग। इन गाँवों से गुजरते हुये गुरुजी और दोनों शिष्य इनसे ही भिक्षा माँगते। कुछ दूर चलने पर कोई आश्रम या मन्दिर मिल जाता। ये ही थे उनके रात्रि के विश्रामस्थल। एक स्थान से दूसरे स्थान जाते समय वहाँ के लोग, “यहीं रहिए, यहीं रहिए”, ऐसा अनुरोध करते। आखिरकार वे बदरीनाथ पहुँचे।

शंकर जी और सनन्दन को एक ओर बिठाकर पृथ्वीधर ने मन्दिर के प्रमुख से मिलकर धर्मशाला में दो कमरे ले लिये। कमरों में पहुँचते-पहुँचते शाम के पाँच बज गये। कुछ देर विश्राम करके तीनों ने अलकनन्दा नदी में स्नान किया।

“अन्धेरा हो रहा है। अगर मन्दिर के पट खुले हों तो हम दर्शन कर सकते हैं”, शंकर जी ने कहा।

“खुले हैं, चलते हैं।”, पृथ्वीधर ने कहा।

तीनों ने मन्दिर में प्रवेश किया। क्या दिल दहलाने वाला दृश्य था! वहाँ बदरीनाथ जी का विग्रह ही नहीं था। लोग खाली पीठ को नमस्कार कर रहे थे। पूछने पर पता चला कि कुछ वर्ष पूर्व पुष्यमास की शीतकाल में जब मन्दिर बन्द था तो उपयुक्त अवसर जानकर बौद्धों ने विग्रह को निकालकर अलकनन्दा नदी में फेंक दिया था। यह सुनकर शंकरजी का मुख गंभीर हो गया। सदानन्द आश्चर्यचकित खड़े रहे गये। शंकर जी ने पृथ्वीधर की ओर देखा। पृथ्वीधर ने कहा, “बौद्धों के इतिहास से मेरा थोड़ा परिचय है। इसलिये इससे मुझे आश्चर्य तो नहीं हो रहा, परन्तु दुःख अवश्य हो रहा है।” वह रात्रि प्रायः मौन में ही बीती।

अगले दिन पृथ्वीधर मन्दिर के अध्यक्ष ब्रह्मदत्त से मिलने गये। जब वे उनके घर में प्रवेश कर रहे तो उन्हें देखकर ब्रह्मदत्त स्वयं बाहर निकलकर बोले, “आप काशी विश्वविद्यालय के आचार्य हैं न? मुझे याद है कि जब मैं तीन वर्ष पूर्व तीर्थयात्रा के लिये वहाँ गया था तब मैंने आपको देखा था।”

“महाशय! मैं अपने आने का कारण बताता हूँ। मैं यहाँ एक बालसंन्यासी के साथ आया हूँ। उनका नाम है शंकरभगवत्पाद। यहाँ आने से पहले वे एक महीने तक काशी में थे। मैं वहाँ उनसे प्रतिदिन मिलता तथा वार्तालाप करता था। एक ही बात में कहना हो तो यह मेरा दृढ विश्वास है कि वे भगवान् शिव के अवतार हैं। उनके गुरु हैं ओंकारेश्वर के गोविन्दभगवत्पाद। उनके आदेशानुसार ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखने के लिये वे यहाँ आये हैं। मेरी आप से प्रार्थना है कि आप इसके लिये उन्हें सब सुविधाएँ प्रदान करें।”

“आचार्य! इससे अधिक और मेरा भाग्य क्या होगा? मैं सारी व्यवस्था करूँगा। परन्तु क्या करना है यह आप मुझे बताइये।”

“देखिए, लिखने के लिये व्यासपीठ, कलम, स्याही, और ताड़पत्र आवश्यक हैं। वर्षा की बूँदों से ताड़पत्र नष्ट हो जाते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिये। अतः, उनका निवासस्थान लेखनयोग्य होना चाहिये। भिक्षा की और सोने की व्यवस्था भी होनी चाहिये। उनके साथ हम दो हैं। हमारी भी भोजन और रहने की व्यवस्था होनी है।”

“आप जैसा कह रहे हैं वैसी ही व्यवस्था हो जायेगी। धर्मशाला में रहना उपयुक्त नहीं हैं, वहाँ यात्रियों का कोलाहल रहता है। ग्रन्थरचना के लिये एक शान्त स्थल चाहिये। व्यासगुफा अधिक उपयुक्त है। वहाँ वर्षा की बूँदें नहीं गिरतीं और ठण्ड भी कम है। उसके बगल में एक और छोटी गुफा है। वहाँ आप दोनों रह सकते हैं। मैं बिस्तर और मोटे कम्बल भेज दूँगा। अब रही भिक्षा की बात तो सर्दी में मैं यही होता हूँ। तीनों की भिक्षा यहीं हो जायेगी। आप जब तक चाहें रह सकते हैं। लिखने के लिये आपने जो सामान बताया है वह सब मैं इकट्ठा कर लेता हूँ। आपको कुछ भी चाहिये हो तो आप बिना संकोच के जब चाहे माँग सकते हैं।”

शीघ्र ही दोनों गुफाएँ रहने के लिये तैयार कर दी गयीं। व्यासगुहा में एक कोना लिखने के लिये तैयार किया गया और उसके साथ ही बिस्तर लगा दिया गया। तेल, बत्ती और प्रकाश फैलाते दो दीपक गुफा में रख दिये गये। फिर ब्रह्मदत्त ने धर्मशाला जाकर शंकर को साष्टांग नमस्कार किया और बड़ी श्रद्धा से उन्हें व्यासगुहा ले आये और कहा, “गुरुजी! आपके आने से हमारा गाँव पवित्र हो गया है। आप यहाँ एक महान् कार्य करने के लिये पधारे हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि आपने हमें सेवा का अवसर दिया है। आपको किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो निस्संकोच हमें आज्ञा दीजिये और वह आपको मिल जायेगी।” शंकर जी ने व्यवस्था देखी और कहा, “ब्रह्मदत्त जी, आपके द्वारा की गयी व्यवस्था अति उत्तम है। अब मैं निश्चिन्त होकर अपने कार्य में लग सकता हूँ। आप और आपके परिवार को भगवान् बदरीनाथ जी का अनुग्रह प्राप्त होता रहे।”

एक-दो दिन बाद शंकर बोले, “कल से भाष्यरचना का कार्य आरंभ करना है।”

पृथ्वीधर ने गुरुजी से अनुमति माँगी कि जैसे-जैसे वे बोलते जायेंगे वैसे-वैसे वह लिखता जायेगा। सनन्दन भी ऐसे लिखना चाहते थे। गुरुजी ने दोनों को लिखने की अनुमति दे दी।

अगले दिन दोनों शिष्य गुरुजी से पहले उठ गये और स्नान और नित्यकर्म समाप्त किये। तब तक गुरुजी भी नदी पर आ गये। सनन्दन

गुरुजी की सेवा के लिये वहीं रहे; इतने में पृथ्वीधर ने वापिस जाकर गुफा में गुरुजी और उन दोनों के लिये आसन तैयार कर दिये। उसने व्यासपीठ को सामने रखा और सूत्रों के मूल ग्रन्थ को एक शुभ्र वस्त्र पर रखकर फूलों से सजाया और धूप जलायी। तब तक शंकर ने स्नान और प्रणवजप करके गुरु का स्मरण करते हुये नैऋत्य दिशा की ओर साष्टांग प्रणाम किया। फिर गुफा वापिस आकर उन्होंने अपना आसन ग्रहण किया और दोनों शिष्यों ने उन्हें नमस्कार किया। कुछ समय ध्यान करने के बाद तीनों ने मिलकर 'शं नो मित्रः' इत्यादि दस शान्तिमन्त्रों का पाठ किया। तत्पश्चात् शंकर जी ने बोलना शुरू किया-

“सबसे पहले ब्रह्मसूत्रों को स्थूलरूप से जान लो। ये सूत्र उपनिषदों के वाक्यों की विमर्शा करने के लिये प्रवृत्त हुये हैं। सब उपनिषदों का ध्येय एक ही है। किन्तु विषय समझाते समय शब्दों और वाक्यों का प्रयोग प्रसंगानुसार हुआ करता है। इसलिये, ध्येय को समझने में लोगों को कठिनाई का अनुभव होता है तथा संशय भी उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मसूत्र इनका परिहार करने के लिये प्रवृत्त हुये हैं।”

“ये सूत्र चार अध्यायों में विभक्त हैं। पहला है समन्वय अध्याय, इस अध्याय में यह दिखाया गया है कि सभी उपनिषदों का समन्वय परमपुरुष आत्मा का निश्चय कराने में ही है। यह जगत्कारण ब्रह्म ही है। निरुपाधिक ब्रह्म मन और वाक् की पहुँच से परे है। जगत् को उपाधि मानने पर वही सविशेष ब्रह्म के रूप में प्रकट होता है। यह उपास्य ब्रह्म है।”

“द्वितीय है अविरोध अध्याय। इसमें बताया गया है कि यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है परन्तु ब्रह्म जगत् से भिन्न है। ब्रह्म को जगत्कारण न मानने वाले सभी सिद्धान्तों का इसमें खण्डन किया गया है। सृष्टिक्रम के निश्चय द्वारा यह दिखाने वाला कि उपनिषद्वाक्यों में इस विषय में कोई विरोध नहीं है, ही अविरोध अध्याय है।”

“तीसरा है साधना अध्याय, इसमें दिखाया गया है कि जीव अपने स्वरूप में निरुपाधिक ब्रह्म ही है और इसको अनुभव करने के लिये आवश्यक साधनों को भी बताया गया है।”



“चौथा फल अध्याय, मोक्षफल के लक्षणों को बताता है। ज्ञानी के सब कर्मों के नाश और अपुनरावृत्ति की इसमें चर्चा है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रत्येक पाद में अनेक अधिकरण हैं। कुल मिलाकर 192 अधिकरण हैं। हर अधिकरण में कई सूत्र हैं परन्तु कुछ अधिकरणों में एक-एक सूत्र भी हैं। ब्रह्मसूत्रों की कुल संख्या 555 है।”

“हर अधिकरण में एक क्रम का अनुसरण किया गया है- पहले होती है संगति जो कि पूर्व विषय के साथ सम्बन्ध बताती है। उसके बाद होता है चर्चा के लिये स्वीकार किया गया विषय, फिर आता है इस चर्चा को अवकाश देने वाला संशय। फिर आते हैं संशय का परिहार करते समय उत्पन्न आक्षेप जिनको पूर्वपक्ष कहते हैं। आक्षेप के निवारण के बाद निश्चित किया गया स्वपक्ष ही सिद्धान्त है। इन पाँच अंशों के क्रम द्वारा ही सिद्धान्त का निश्चय किया जाता है।”

सनन्दन ने एक प्रश्न पूछा “पहले अधिकरण की संगति क्या है?”

“देखो, पहला अधिकरण है जिज्ञासा अधिकरण। उसमें एक ही सूत्र है - ‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’। जिज्ञासा का अर्थ है जानने की इच्छा। क्या जानने की इच्छा? ब्रह्म। अतः, ब्रह्म जिज्ञासा का विषय है।”

“ब्रह्म की जिज्ञासा क्यों करनी चाहिये?”

“उसके ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।”

“मोक्ष क्या है?”

“दुःख के लेशमात्र से भी रहित नित्य आनन्द।”

“परन्तु जिन्होंने शास्त्र का अध्ययन किया है वे भी तो दुःख का अनुभव करते ही हैं न?”

“हाँ। ब्रह्मज्ञान के बाद वह ब्रह्म मैं ही हूँ ऐसा अनुभव होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।”

“ब्रह्म जगत् का कारण है। वह सदा-सर्वदा एक समान रहता है। मैं तो इस जगत् का एक अंश हूँ। मैं जन्म लेता हूँ और मरता हूँ। इसलिये ‘मैं ब्रह्म हूँ, यह अनुभव नहीं कर सकता।’

“आप कौन हो बोलो?”

“मैं सनन्दन ब्रह्मचारी हूँ।”

“कल रात आप स्वप्न में कहाँ थे?”

“काशी में घूम रहा था।”

“आप उस समय कौन थे? जो काशी में घूम रहा था या जो बदरीनाथ की गुफा में सो रहा था?”

दोनों शिष्य इस बात पर हँस पड़े। क्या कहें उन्हें नहीं सूझा। शंकर जी ने ही दुबारा कहना प्रारंभ किया, “कल रात गहरी नींद (सुषुप्ति) में आप कहाँ थे? किस रूप में थे? बोलो।”

“कुछ भी नहीं जानते।”

“इससे स्पष्ट है कि सुषुप्ति में आपको अपने अस्तित्व पर संशय नहीं होने पर भी आप कौन हो यह नहीं जानते। यही है आपका अज्ञान। सुषुप्ति में शरीर और इन्द्रियों के साथ आपका सम्बन्ध नहीं होता। फिर भी जाग्रत् अवस्था में शरीर के साथ सम्बन्ध की कल्पना करके आप अपने को सनन्दन समझने की गलती कर बैठते हैं। यही है आपके द्वारा किया जा रहा अध्यास। सुषुप्ति में विद्यमान आप ब्रह्म हैं ऐसा श्रुति कहती है। उसको जान लेना ही ज्ञान है। अब जो पहले कहा गया है कि ‘जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है परन्तु ब्रह्म जगत् से भिन्न है’, उसको याद करो। तब आपको ज्ञात होगा कि जगत् मुझसे भिन्न नहीं है, परन्तु मैं जगत् से भिन्न हूँ। तब शरीर से सम्बन्ध छूट जाता है। आप मुक्त हो जाते हो। अतः, यह जानना कि आप नहीं जानते हो कि आप कौन हो यही जिज्ञासा अधिकरण की संगति है।”

पृथ्वीधर ने अगला प्रश्न पूछा, “यह सबका अनुभव है कि सुषुप्तात्मा सन्मात्र है। इससे अधिक उसके विषय में और कुछ नहीं कह सकते। श्रुति सुषुप्तात्मा को ही ब्रह्म बताती है। इसलिये, ब्रह्म भी सन्मात्र ही होना चाहिये। परन्तु सन्मात्र ब्रह्म से जगत् कैसे उत्पन्न हो सकता है?”

“यह आक्षेप केवल अनुमान पर आधारित है। देखो, सन्मात्र ब्रह्म से जगत् उत्पन्न हो सकता है या नहीं यह अनुमानप्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता अर्थात् ब्रह्म का जगत् का कारण होना यह अनुमान का विषय नहीं है केवल श्रुतिप्रमाण का विषय है। अतः, जो श्रुति की शरण में है वे श्रुति जो कहती है उसी को स्वीकार करते हैं।”